हिन्दुस्तानी

त्रैमासिक

भाग २४	जनवरी-मार्च
अङ्क १	१९६३

प्रबन्ध सम्पादक	प्रधान सम्पादक
विद्या भास्कर	बालकृष्ण राव
सचिव	
एवं कोषाध्यक्ष	सहायक सम्पादक
हिन्दुस्तानी एकेडेमी	डॉ० सत्यव्रत सिन्हा

मूल्य

एक अङ्क : ३.५० रु०

वार्षिक : १०.०० रु०
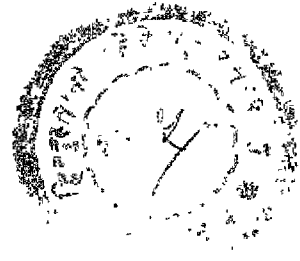
हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद

सम्पादक-मण्डल

•

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, डी० लिट्०
डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पद्मभूषण
डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, डी० लिट०
डॉ० दीनदयालु गुप्त, डी० लिट्०
डॉ० सत्यप्रकाश, डी० एस-सी०

अनुक्रम

•

कथा-साहित्य और मनोग्रन्थियाँ

•

देवराज उपाध्याय

मनोविज्ञान के क्षेत्र में एक शब्द बहुत प्रचलित है, (Complex), जिसे हिन्दी में ग्रन्थि कहा जाता है। मनोविज्ञान का साधारण विद्यार्थी भी हीनता-ग्रन्थि (Inferiority complex) से अवश्य ही परिचित होगा। मनुष्य के वाह्य आचरण का स्वरूप बहुत कुछ इन ग्रन्थियों के द्वारा ही निश्चित होता है। आप किस ढङ्ग का वस्त्र धारण करते है, किसी वस्तु को देख कर या सुन कर किस तरह की प्रतिक्रिया करते हैं, किसी वस्तु के प्रति प्रेम और किसी के प्रति घृणा के भावो से उद्वेलित होते है तो इसका रहस्य आप की मानसिक ग्रन्थियों में खोजा जा सकता है। आप से किसी ने कहा कि मन में कोई अङ्क रखो। आपने कोई अङ्क रखा, तीन या तेरह। इस तीन और तेरह की मूल प्रेरणा कहाँ से मिली, इसका भी पता आपकी मानसिक ग्रन्थियों को ही है। जब हम मनोविज्ञान को विज्ञान के रूप में देखना चाहते हैं तो इसे भी वैज्ञानिक नियम अर्थात् कारण और कार्य की शृङ्खला में बाँध कर ही देखें तो ठीक। विज्ञान प्रत्येक घटना का कारण उपस्थित करता है, उसकी व्याख्या करता है, उसके नैतिक मूल्यों से उसका कोई मतलब नही। उसी तरह मनोविज्ञान भी प्रत्येक मानस व्यापार का कोई तर्कसङ्गत कारण उपस्थित करता है। भौतिक विज्ञान मे जिस तरह आकस्मिक घटना नहीं होती, कोई बात संयोग पर नहीं छोड़ी जाती, जो घटा है वह अपनी पूर्ववर्ती घटनाओं का अवश्यम्भावी परिणाम है, उसी तरह मनोविज्ञान भी किसी व्यापार को यों ही खुला नहीं छोड़ता, प्रत्येक का कारण देता है। वास्तव में जब तक हम इतनी सी मूल-भूत बात को स्वीकार नहीं कर लेते तब तक मनोविज्ञान को विज्ञान का रूप नही मिल सकता। जब इतनी सी बात हम मान लेते हैं तो मनोविज्ञान का उद्देश्य भी स्पष्ट हो जाता है और वह है हमारी चेतना के तथा तज्जनित व्यापार के मूलभूत कारण या प्रेरणा का पता लगाना।

अत: निष्कर्ष यही निकला कि भौतिक जगत् की तरह मानसिक जगत् में भी प्रत्येक कार्य के लिए कारण ढूंढना होगा। इसी को मनोवैज्ञानिकों ने मनोवैज्ञानिक नियतिवाद (Psychological determinism) कहा है। इस मनोवैज्ञानिक नियतिवाद की मूल इकाई है ग्रन्थि (Complex), अर्थात् ग्रन्थियाँ ही वे कारण हैं जो हमारी विचारधारा को निश्चित करती है और हमारे आचरण के स्वरूप का निर्माण करती हैं भौतिक शास्त्र मे जो स्थान शक्ति का है, जगत में

वही स्थान ग्रन्थि का है। यह शक्ति सदा सक्रिय रहती है और स्पष्ट रूप से इसका प्रभाव सदा परिलक्षित होता हो, यह कोई निश्चित नहीं। यह सदा ही मनुष्य को क्रियातत्पर रखे, उसके आचरण में प्रकट होती रहे, यह कोई आवश्यक नहीं। वह मनुष्य को एक विशेष ढङ्ग से प्रतिक्रिया करने की स्थिति में रखती है। जहाँ थोड़ा-सा सङ्केत मिला, झटका-सा लगा, उत्तेजना मिली नहीं कि मनुष्य में एक आचरण विशेष का तत्परत्व आ गया, वह विशिष्ट आचरण में प्रवृत्त हो गया। पिस्तौल का कार्य है मार करना। बिजली का काम है रोशनी देना या पङ्खा चलाना। पर न गोली सदा छूटती रहती है, न बल्ब ही जलते रहते हैं और न पङ्खे चलते रहते हैं। हाँ, सारी सामग्री तैयार रहती है। मनुष्य पिस्तौल की ही तरह है। ग्रन्थियों ने उसको इसी तरह सङ्गठित कर रखा है और वह जरा-सी उत्तेजना पर अपने नियोजित मार्ग पर चल पड़ने को तैयार है। कहने का अर्थ यह कि मनुष्य के अन्दर कुछ भावाक्रान्त विचार (Emotionally toned ideas) रहते हैं, वे उसे अन्दर ही अन्दर एक विशेष ढङ्ग से प्रतिक्रिया करने का तत्परत्व बनाये रहते हैं और वह ज़रा से इशारे पर अपने निर्दिष्ट मार्ग पर अग्रसर हो जाते हैं।

मनोवैज्ञानिक और उपन्यासकार दोनों ही व्यक्ति को समझने की चेष्टा करते हैं। अन्तर केवल यही है कि मनोवैज्ञानिक का सम्बन्ध वास्तविक जीवन से है और कथाकार का सम्बन्ध-वास्तविकता को कलात्मक ढङ्ग से उपस्थित करने से है। मनोवैज्ञानिक परीक्षण से प्राप्त तथ्यों में परिवर्तन नहीं कर सकता, उन्हें ज्यों का त्यों सामने रख अपना निष्कर्ष निकाल सकता है पर कथाकार की पहली वफ़ादारी कथा के प्रति है। कला उसका प्रथम प्रेम है। मनोविज्ञान से भी उसका प्रेम तो है, पर वह उसका द्वितीय प्रेम है। यथावसर वह दूसरे के प्रति थोड़ा उदासीन भी हो सकता है पर प्रथम के प्रति तो उसका भावावेग बना ही रहेगा।

उदाहरणार्थ, मनोवैज्ञानिकों ने कुछ खास ही ग्रन्थियों के नाम गिनाये हैं जैसे इडिपस ग्रन्थि, हीनता ग्रन्थि इत्यादि। परन्तु कथाकार कहेगा कि इतनी ही ग्रन्थियाँ क्यों। एक फ़ोटोग्राफ़र है, फ़ोटोग्राफ़ी से उसे बहुत प्रेम है। वह फ़ोटोग्राफ़ी-सम्बन्धी साहित्य का बहुत अध्ययन करता है, बातचीत के अवसर पर भी समय कुसमय फ़ोटोग्राफ़ी की ही बातें छेड़ देता है, जहाँ कहीं एक अच्छा स्नेप देखा उसे चुरा कर भी अपने पास रख लिया। इसके लिए उसे कई बार अपमानित होना भी पड़ा है। मतलब वह फ़ोटोग्राफ़ी से ग्रसित है। कथाकार चाहे तो इसी फ़ोटोग्राफ़ी की ग्रन्थि को पात्र के जीवन की परिचालिका शक्ति के रूप में उपस्थित कर सकता है।

मनुष्य के जीवन में इन ग्रन्थियों का महत्त्व एक बार स्वीकृत कर लेने पर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इन ग्रन्थियों का पता किस तरह चले। ये गाँठे तो इतनी गहराई में रहती हैं और इन पर इतने आवरण रहते हैं कि इनके वास्तविक स्वरूप का पता चलाना ही कठिन है। वे ग्रन्थियाँ तथा तज्जनित विचार जिन पर दमन का प्रभाव नहीं है और जो सीधे हमारे चैतन्य की सतह पर आ जाती हैं, उनका तो पता चलाना फिर भी सहज है, पर जिन्हें दमित कर दिया गया है अथवा जो दमन के प्रभाव से बच कर दूसरे मार्गों से रूप बदल कर सतह पर आती हैं, उनका पता पाना तो बड़ा ही कठिन है। एक आदमी किसी गाँव अपने मित्र के साथ यों ही आनन्द के लिये घूम रहा था। पास ही गिरजाघर के घण्टे से जो ध्वनि आयी उस पर बुरी तरह झल्ला उठा था। कितनी कर्कश ध्वनि है कान के पर्दे फट गये इस तरह घंटे बजाने पर क़ानून रोक होनी चाहिए, यह तो सार्वजनिक

दूषण है मैं इसे तोड फेकूगा मित्र बेचारे तो हक्के बक्के रह गये घण्ट की ध्वनि मे मधुरता थी और वह ८ सौदय का नमूना समझा जाता था तब वह अकाण्ड ताण्डव क्यो ? उसने अपने मित्र से तरह-तरह के प्रश्न करना प्रारम्भ किया।

कुशल प्रश्नों के द्वारा यह बात भी मालूम हुई कि उस गिरिजाघर का पादड़ी जो कविताएँ लिखता है वे दो कौड़ी के तीन हैं। कुछ देर की बातचीत से उस व्यक्ति की झुंझलाहट के रहस्यो का सारा पता चल गया। यह व्यक्ति भी कविता लिखता था। अभी हाल ही में जो आलोचनाएँ हुई थीं उसमें गिरिजे के पादड़ी की कविताएँ इस व्यक्ति की कविता से श्रेष्ठ कही गयी थीं। बस क्या है, इस झुँझलाहट का सारा रहस्य स्पष्ट है। इस व्यक्ति का आक्रोश उस घण्टा-ध्वनि के विरुद्ध नही था बल्कि उस पादड़ी के विरुद्ध था जो उस गिरिजे में रहता है जहाँ वह घण्टा टँगा था। यद्यपि मनोवैज्ञानिकों ने इस विचार बिन्दु को अधिक स्पष्ट ढङ्ग से और जोर देकर उपस्थित किया है, पर पहले भी लोगों के दिमाग में यह बात नहीं आई हो सो बात नहीं। शुक्ल जी की सम्बन्ध भावना इससे कुछ मिलती जुलती चीजें हैं। वंशी, गोपियों को इसलिए प्यारी नहीं थी कि वह सोने की बनी थी। बल्कि इसलिए कि वे कृष्ण के अधरामृत का पान कर चुकी थी। वंशी प्रेम का अर्थ कृष्ण का प्रेम। गणित सूत्र के अनुसार वंशी = कृष्ण। अतः वंशी-प्रेम = कृष्ण-प्रेम। उसी तरह इस उपस्थित उदाहरण में घण्टा = पादड़ी। अतः घण्टा-विरोध = पादरी-विद्रोह।

ऊपर जो उदाहरण दिया गया है वह प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक जुङ्ग के साहित्य से लिया गया है। जिस जुङ्ग ने मानसिक ग्रन्थियों की चर्चा की है, उसी ने इस तरह की पेचीदी, टेढ़ी-मेढी चाल से चलने वाली मानसिक ग्रन्थियों के स्वरूप के उद्घाटन के साधन भी बतलाये हैं। हमारा सम्बन्ध मनोविज्ञान से सीधा नहीं है। हम कथा-साहित्य के सन्दर्भ में ही मनोविज्ञान पर विचार कर रहे है। अतः सब साधनों को न ले कर हम उन्हीं साधनों को लेंगे जिनका प्रयोग कथा-साहित्य में पाया जाता है। सम्भव है, इस दृष्टि से अध्ययन करने पर और भी प्रयोग मिल जायें। तब उनकी भी चर्चा होगी। अभी तो इस तरह का अध्ययन प्रारम्भिक अवस्था में ही है।

ग्रन्थियों का पता लगाने के लिए एक पद्धति निकाली थी जिसे हम उत्तेजक प्रतिक्रिया-पद्धति कहेंगे। रोगी के सामने किसी शब्द का उच्चारण किया जाता है और कहा जाता है कि इस शब्द के सुनते ही जो शब्द सब से पहले तुम्हारे मस्तिष्क में आये उसे कहो। जिस शब्द का उच्चारण रोगी के सामने किया जाता है वह हुआ उत्तेजक शब्द (Stimulus word) और उसके उत्तर में जो शब्द कहा जाता है वह हुआ प्रतिक्रिया शब्द (Reaction word)। उत्तेजक शब्द और प्रतिक्रिया शब्द के उच्चारण में जो समय का व्यवधान होता था उसे स्टापवाच के सहारे नोट कर लिया जाता था। समय के इस व्यवधान को प्रतिक्रिया समय (Reaction time) कहा गया। इस प्रयोग में यह बात देखी गयी कि जो उत्तेजक शब्द जो मानसिक ग्रन्थि को हिला कर सक्रिय करते हैं उनकी प्रतिक्रिया रोगी पर दूसरी ही तरह की होती थी और जो उत्तेजक शब्द ऐसा नहीं कर पाते थे उनकी प्रतिक्रिया दूसरी तरह की। एक बात तो स्पष्ट ही देखी गयी कि ग्रन्थि की छोर पर सीधी अँगुली रख देने वाले उत्तेजक शब्द से जो प्रतिक्रिया शब्द बनते थे उनमें विशेषता होती थी और उनके प्रतिक्रिया समय में भी वृद्धि हो जाती थी।

अब प्रश्न यह होता है कि इस तरह के प्रयोग का उपयोग कथा-साहित्य में हुआ है या नहीं ? प्रायः देखा तो यही जाता है कि जिस बात को विज्ञान प्रत्यक्ष दिखला रहा है वह बहुत पहले ही साहित्यकार की कल्पना में आ चुकी रहती है। आज स्वयंचालित वायुयान, मृत्यु किरण इत्यादि की बातें प्रत्यक्ष दीख पड़ती हैं पर आज से बहुत पहले ही ये बातें दुर्गाप्रसाद खत्री के मस्तिष्क में आ चुकी थीं और उन्होने इसका प्रयोग 'रक्तमंडल' नामक उपन्यास में किया था। इसी तरह ध्यान से ढूँढने पर इस तरह के प्रयोग का साहित्यिक उपयोग कथा-साहित्य में मिल जायेगा। मुझे एक कथा पढ़ने को मिली जिसमें इस प्रयोग से अत्यधिक मिलती-जुलती बात का उपयोग मिला। पुस्तक मेरे पास इस समय नहीं है कि मैं ठीक-ठीक बतला सकूँ कि उसका लेखक कौन और किस देश का वासी था, पर कहानी का सारांश यह है।

एक राजकुमार बीमार पड़ा। उदासीन, अन्यमनस्क रहने लगा, मानो जीवन की कोई सार्थकता नहीं। तरह-तरह के उपचार हुए पर सब व्यर्थ। बाहर से एक वैद्य आया। उसने राजकुमार की परीक्षा की और कहा कि मेरे सामने एक ऐसे व्यक्ति को लाया जाय जो इस देश के सारे प्रान्तों के नाम जानता हो। ऐसा व्यक्ति बुलाया गया। वैद्य ने राजकुमार के नब्ज पर अंगुली रखी और उस व्यक्ति से सारे प्रान्तो के नामों का उच्चारण करने के लिए कहा। जब एक प्रान्त विशेष का नाम आया तो राजकुमार की नब्ज की गति में स्फूर्ति आ गयी। अब उस प्रान्त के सारे नगरों से परिचित व्यक्ति को बुलाया गया और उसी प्रयोग की पुनरावृत्ति की गयी अर्थात् कहा गया कि उस प्रान्त के सारे नगरों का नाम लो। एक नगर का नाम आते ही नब्ज की गति में परिवर्तन आ गया। अब उस नगर के सारे स्थानों से परिचित व्यक्ति को बुलाया गया और उस स्थान विशेष को नोट किया गया जिसमें राजकुमार की नब्ज को प्रभावित करने की क्षमता थी। बाद में एक ऐसे व्यक्ति को बुलाया गया जो उस स्थान के सारे घरों से परिचित हो और पूर्ववत् एक घर विशेष पर ध्यान केन्द्रित किया गया। अन्त में एक ऐसा व्यक्ति बुलाया गया जो उस घर के सारे सदस्यों का नाम जानता हो। ठीक पूर्व-पद्धति का अवलम्बन कर वैद्य ने निर्णय दिया कि राजकुमार अमुक परिवार की अमुक लड़की से प्रेम करता है और यही उसके रोग का मूल कारण है।

यहाँ पर इतना तो स्पष्ट है ही कि प्रान्त, नगर, स्थान, परिवार इत्यादि के नाम उत्तेजक शब्द (Stimulus word) हैं। नब्ज की गति में परिवर्तन प्रतिक्रिया शब्द (Reaction word) है। गति-विचित्रता इत्यादि को प्रतिक्रिया समय (Reaction time) इत्यादि का स्थानापन्न मान लीजिए तो सारी बातें स्पष्ट हो जायेंगी। यहाँ पर कथाकार वही बात कर रहा है जो मनोवैज्ञानिक जुङ्ग की पद्धति रहती है।

शेक्सपियर का प्रसिद्ध नाटक हैमलेट तो मनोवैज्ञानिकों के लिए क्रीड़ा-क्षेत्र ही रहा है और उन्होंने न जाने कितनी ग्रन्थियों को वहाँ से ढूँढ़ कर निकाला है। इडियस ग्रन्थि तो वहां पर है ही। पर इस ग्रन्थि को ढूँढ़ निकालने के लिए जुङ्ग के द्वारा आविष्कृत पद्धति की भी चर्चा वहां पर है। हैमलेट की कथा प्रसिद्ध है, उसे दुहराने की आवश्यकता नहीं। हैमलेट के पिता की हत्या कर उसके चाचा कालिडयस ने सिंहासन पर अधिकार कर लिया। हत्या गुप्त रूप से की गयी थी। किसी को हत्याकारी का ठीक पता न था बाद में हैमलेट को पता जरूर चला पर उसके चाचा ने ही हत्या की है इसका निश्चय किस तरह हो इसके लिए हैमलेट ने एक उपाय निकाला एक

नाटक का अभिनय कराया गया जिसकी कथावस्तु हैमलेट के पिता की हत्या से मिलती जुलती था राजा भी दर्शकों में था जब हत्या के अभिनय का प्रसङ्ग आया तब उसका कुछ ऐसा व्यवहार होने लगा जिससे उसकी सारी कलई खुल गयी। हैमलेट के इस प्रसङ्ग को जुङ्ग की उत्तेजक प्रतिक्रिया शब्द-मूलक पद्धति की राह से समझा जा सकता है। हैमलेट को हम मनोविश्लेषक समझ लें, उसके द्वारा आयोजित नाटक और उसके अभिनयों को उत्तेजक शब्द समझ लें और राजा के व्यवहारों को प्रतिक्रिया समझें तो मेरे कथन का अभिप्राय स्पष्ट हो जाएगा। सम्भव है, हैमलेट का उदाहरण विदेशी-सा लगे। पर भवभूति का उत्तररामचरित तो विदेशी नहीं है न ?

एक और प्रश्न पर विचार कर लेना आवश्यक है। साहित्य में वैज्ञानिक, ऐतिहासिक अथवा मनोवैज्ञानिक, किसी विशेष बात के प्रयोग की दो अवस्थाएँ हो सकती हैं। इन दोनो अवस्थाओं को स्पष्ट करने वाला कोई शब्द नहीं मिल रहा है। पर अज्ञातावस्था और ज्ञातावस्था इन दोनों शब्दों से हम काम चला लेंगे। न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त का आविष्कार किया। लोगों ने इसका अध्ययन किया। और आज साधारण-सा बालक भी इसे जानता है और इसका प्रयोग करता है। यह हुई गुरुत्वाकर्षण की ज्ञातावस्था। पर न्यूटन के पहले भी तो पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति काम करती ही थी और लोग इससे प्रभावित होते ही थे। यह हुई अज्ञातावस्था। कहने का अर्थ यह कि जीवन के शाश्वत तत्त्व, जिन्हें ले कर साहित्य चलता है, सदा ही सक्रिय रहते हैं, चाहे उनके स्वरूप को पहचान कर कोई उनका नामकरण भले न कर सके। पर एक बात अवश्य है, दोनों अवस्थाओं के प्रभाव मे अन्तर होता है। पहले की गुरुत्वाकर्षण शक्ति काम करती थी तो करती ही थी। कोई उन्हें रोक नही सकता था। किसी वृक्ष की चोटी से कोई फल गिरा तो गिर ही पड़ा। पर आज यह भी हो सकता है, इस तरह की भी व्यवस्था हो सकती है कि वह नीचे आये ही नहीं, बीच में ही लटका रहे अथवा ऊपर को उड़ जाय। गुरुत्वाकर्षण शक्ति पहले भी काम करती थी और आज भी करती है पर पहले स्वामिनी थी, आज दासी है। बुद्ध ने प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर ही अपनी मध्यम प्रतिपदा का प्रचार किया पर उसी के आधार पर उनके अनुयायियों ने जाने क्या-क्या गुल खिला दिये।

उसी तरह कथा-साहित्य पर मनोविज्ञान का प्रभाव ढूँढ़ते समय हमें मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के अज्ञातावस्था और ज्ञातावस्था को ठीक तरह से समझ लेना चाहिए। अज्ञातावस्था में जो सिद्धान्त काम करेंगे, उनकी गति अचूक होगी। उदाहरणार्थ, जहाँ उत्तेजक शब्द आया नहीं कि प्रतिक्रिया शब्द भी तैयार है। एक मूर्ख पण्डित राजा के दरबार मे चले कि कोई कविता सुना कर कुछ अर्थोपार्जन तो हो। राह में देखा कि एक साँड़ नदी के तट पर अपनी सींगों को पानी मे भिगो-भिगो कर प्रक्रीड़ा करने में संलग्न है पर वह ऐसा भी लगता है कि कहीं उस पर आक्रमण न कर बैठे। बस उसने कविता बना ली :—

का तू घसह का तू घसह
घस घस लाव पानी
जेही खातिर तू घसह घसह
सेहु भरम हम जानी

अर्थात् पानी लगा लगा कर जो तुम रगड़ा-रगड़ी कर रहे हो उससे क्या। मैं तो खूब समझता हूँ कि यह किस बात की तैयारी है। मै सतर्क हूँ। मुझ पर आक्रमण कर मेरा तुम कुछ भी बिगाड़ न सकोगे।

जिस समय कवि महोदय राजा के पास पहुँचे उस समय एक नाई उनकी दाढ़ी बना रहा था और अपने छुरे की धार को तेज़ करने के लिए सिल्ली पर पानी की छींटे देकर छुरे को इधर-उधर कर रहा था कि कवि ने अपनी कविता पढ़ी—'का तू घसह....'। नाई ने समझा कि रहस्य खुल गया है। उसने राजा के चरण पकड़ लिये। "भगवन्! मैं तो निर्दोष हूँ। मुझे तो कुछ षड्यन्त्रकारियों ने आपकी हत्या के लिए तैयार किया था।"

यहाँ पर कवि की कविता को उत्तेजक शब्द समझ लीजिए और नाई की क्षमा-प्रार्थना को प्रतिक्रिया शब्द। पर एक बात तो स्पष्ट है। न तो कवि ने कविता का प्रयोग सोद्देश्य प्रतिक्रिया शब्द के रूप में किया है और न तो नाई का व्यवहार ही सोद्देश्य है। कवि कि सोद्देश्यता तो राजा के प्रति है। राजा के सम्बन्ध में ही इस कविता को प्रतिक्रिया शब्द का रूप प्राप्त हो सकता है। पर कथाकार का ध्यान इस ओर नहीं गया है और उसने राजा की प्रतिक्रिया की ओर आंख मूंद ली है। वह मनोवैज्ञानिक कथाकार नहीं। मनोविज्ञान का उसके लिए कोई महत्त्व नहीं। वह तो एक कौतूहलवर्धक कथा कहना चाहता है जिसमें आकस्मिकता का झकोर रहता ही है। वह शायद ईश्वर में, दैवी न्याय में, भाग्य में, होनहार में विश्वास करता था; पर मानव में तथा मानव-मनोविज्ञान में उसका विश्वास नही था। कम से कम मनोविज्ञान उसका ईश्वर तो बना नही ही था।

यह कहना तो कठिन है कि आज का मनोवैज्ञानिक कथाकार होता तो इस कहानी को किस तरह लिखता। पर इतना तो सभी समझ सकते हैं कि वह पात्रों को इतने स्थूल, सस्ते और अनगढ़ रूप में क्रियातत्पर नहीं दिखलाता। कवि इतना सरल क्यों है, इतना असंज्ञ क्यों है, इतना निर्बुद्धि क्यों है, इतना अमानव क्यों है, वह भला आदमी कुछ सोचता क्यों नहीं। उसके घर से राजा के प्रासाद के बीच २० मील की दूरी होगी ही और उसके पास उस ज़माने में कार तो क्या होगी। क्या कुछ दिवास्वप्न नही देख सकता था। वह सामाजिक या आर्थिक व्यवस्था जिसने एक को सोने के सिंहासन पर बैठाया और दूसरे को धूल में लोटने के लिए बाध्य किया, उसके प्रति आक्रोश के भाव क्यों नही उठे। राह में कोई मिला तो एक साँड़ ही। कोई मनुष्य क्यों नही? पर जैसे को तैसा मिला। वह अमानव था ही, उसे अमानव मिला। राजा ने या नाई ने जब कविता सुनी तो ऐसा क्यों नहीं लगा कि कोई उनका दुखता अङ्ग छू गया और वे अन्दर ही अन्दर तिलमिला गये हों। उन्हें प्रकट हो जाने की, क्रिया-तत्पर हो जाने की इतनी उतावली क्यों थी? एच० जी० वेल्स के 'Marriage' नामक नाटक के विरुद्ध Henry James की तो यही शिकायत थी। नायक है, वह नायिका के साथ गलियों में घुस जाता है। बाद में तीन घण्टे के बाद निकलता है। इतनी देर वे क्या करते रहे, इसका कुछ भी आभास नहीं मिलता। एक बार भी तो नायिका ने आँख में आँसू भर उलाहना के स्वर में कहा होगा, एक बार भी तो नायक ने रूमाल से आँसू पोंछे होंगे। यह क्या कि नायक और नायिका का मिलन हो और वहाँ कुछ घटे ही नहीं। एक बार एक कवयित्री की नायिका मिली थी तो आज तक भी उनके रुदन और हास फूलों में भरे हुए हैं

"कैसे रहती हो सपना है, अलि उस मूक मिलन की बात। भरे हुए अब तक फूलों में मेरे रोदन उनके हास।" पर यहाँ तो मानो जैसे कुछ हुआ ही नहीं। इसका यही कारण था कि वेल्स मनोवैज्ञानिक कथाकार नहीं थे।

इस दृष्टि से तो जैनेन्द्र जी की कुछ कहानियाँ ही अधिक मनोवैज्ञानिक कही जायेंगी। "एक रात' कहानी में जयराज हरीपुर में भाषण देने जाते हैं। दो पृष्ठों में भाषण तक की कथा समाप्त हो जाती है। बाद में वे स्टेशन आते हैं और बीच मे मिल जाती है सुदर्शना। तारीफ यह कि वहाँ पर कोई घटना नहीं घटती। जो कुछ भी होता है उससे नायक जयराज की मनस्थिति पर प्रकाश पड़ता है। सुदर्शना को ले कर जयराज के मन में कहीं न कहीं कोई ग्रन्थि जरूर बन गयी है, राष्ट्र और देश की चिन्ताधारा में उसे डुबो देने की चेष्टा ज़रूर हो रही है। वह ज़रा से सङ्केत पर अपनी पूरी शक्ति के साथ सर उठाये बिना रहता।

वैसे जिस उत्तेजक तथा प्रतिक्रिया शब्द-पद्धति की चर्चा की गयी है और जिसके आधार पर व्यक्ति की आन्तरिक ग्रन्थियों का पता लगाने की चेष्टा की जाती है, उस पद्धति पर अवलम्वित कहानियों के अनेक उदाहरण आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य से प्राप्त किये जा सकते हैं। जैनेन्द्र की एक कहानी है 'पानवाला'। एक पानवाला नवयुवक छरहरे बदन का ख़ासा जवान बड़े ही सुन्दर ढङ्ग से एक विचित्र लहजे में गा-गा कर पान बेचता है। विशेषतः जब स्त्रियों को देखता है तो उसमें विचित्र सक्रियता आ जाती है और वह उनके सामने उचक-उचक कर पान वेचने लगता है और स्त्रियों पर इसकी क्या प्रतिक्रिया होती है, इसका अध्ययन करता है। और यह बात सही भी है कि स्त्रियाँ उसके प्रति विशेष रूप से आकर्पित होती हैं। एक व्यक्ति ने देखा कि जब पानवाला उसके मुहल्ले में पान वेचने आता है तो कुछ ऐसा संयोग होता है कि उसकी लड़की भी ज़रूर पान ख़रीदने को जाती है। वे बड़े बिगड़े और पानवाले को बुला कर डाँटा "तुम पान बेचते हो या गुण्डागिरी करते हो। ख़बरदार जो अब मुहल्ले में पाँव रखा।" तब से पानवाले ने आना-जाना बन्द ही कर दिया। एक दिन देखते क्या हैं कि वही पानवाला आया और एक पोटली ले कर उसी व्यक्ति को दिया और गिड़गिडा कर पैर पकड़ कर कहने लगा, "हुज़ूर, इस पोटली में कुछ गहने हैं। मेरी बीबी को दे दीजिएगा। वह कुछ आभूषण की प्रेमी थी और चाहती थी कि मैं जरा सज-धज कर रहूँ। साफ़-सुथरे कपडे पहनूँ। मैं गरीवी के कारण ऐसा कर नहीं सकता था। वह मुझसे असन्तुष्ट हो कर एक पड़ोसी के साथ भाग गयी। अब मैंने अपना व्यापार बढ़ा कर कुछ पैसे एकत्र कर लिये है, वस्त्राभूषण भी ख़रीद लिये हैं। ज़रा साफ़-सुथरा रहता भी हूँ। पान बेचना तो बहाना-मात्र था। मेरे सजवज पर नारियाँ आकर्षित होती थी तो मेरे हृदय में विश्वास होता था कि मैं ठीक रास्ते पर हूँ और मेरी बीबी ज़रूर एक दिन लौट आयेगी। वह ज़रूर आयेगी, मेरा प्यार उसे खींच लायेगा। मैं आपको उसका रूप-रङ्ग, नाक-नक़्शा बतला देता हूँ। आपको पहचानने में कोई दिक्कत न होगी।" ख़ैर, पूरी कहानी से मेरा मतलब नहीं। मैं तो इतनी बात कहना चाहता हूँ कि पानवाला अपने व्यवहार, सजधज-वेषभूषा को नारियों के सामने (Stimulus work) के रूप में रखना चाहता था जिसके कारण नारियों की मानसिक ग्रन्थि सक्रिय हो जाती थी और उनके वास्तविक स्वरूप को सामने आने में सहायता मिलती थी

आलोचक होते है जो कवि-कर्म का पूर्व-विधान करते हैं अर्थात् वे कुछ ऐसे सङ्केत बना देते हैं, कुछ ऐसे नियमों का अनुष्ठान बता देते हैं जिनके पालन करने से उन्हें कविता बनाने मे सफलता मिले। यदि इस बात को ठीक से समझा जाय, और उसको एक सीमा तक न घसीटा जाय, इसे एक साधारण रूप में ग्रहण किया जाय, तो इसकी उपयोगिता को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। उसी तरह मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के लिए जब हम यहाँ (Stimulus) और (Response) के सन्दर्भ में विचार कर रहे हैं तो इसके लिए एक सूत्र बनाया जा सकता है। कोई ऐसा शब्द नही मिल रहा है जो मेरे भावो को ठीक से अभिव्यक्त कर सके। मैं इतना ही कह सकता हूँ कि ऐसे उपन्यासों के वर्णन में निष्ठा प्रत्यय अथवा तिङन्त की प्रधानता न हो कर शतृ-शानच् प्रत्यय की प्रधानता रहती है। उसमें विषय न तो होता है, न हो गया रहता है, परन्तु होने की अवस्था में रहता है।

संस्कृत के अलङ्कारशास्त्रियों ने इसके प्रसङ्ग में दो न्यायों का उल्लेख किया है। शतपत्र-भेद-न्याय और केशकर्तन-न्याय। कमल की सौ पङ्खुड़ियो को आप सुई से छेदिए। सुई तो बारी-बारी से ही पङ्खुड़ियों को छेदेगी, पहले एक पङ्खुड़ी छिदेगी, बाद में दूसरी, तब तीसरी। परन्तु यह भेदन कार्य इतनी शीघ्रता से सम्पन्न होता है कि समय का ज्ञान नही होता। ऐसा लगता है कि सब पङ्खुड़ियों का भेदन युगपत् रूप में हुआ है। सैलून में जब हम बाल कटवाते हैं, वहां पर भी कैंची, कर्तन का कार्य शीघ्रता से ही करती है परन्तु कैंची के चलने और बालों के कट कर गिरने मे स्पष्टतया समय के व्यवधान का ज्ञान होता है। इसी तरह बिल्ली ने चूहे (Stimulus) को देखा और लपक पड़ी (Response)। 'उत्तेजक पदार्थ तथा प्रतिक्रिया' इन दोनों पक्षो की स्थिति तो अनिवार्य है, पर इनके स्वरूप में भेद हो सकता है। चूहा जीवित न हो कर मृत भी हो सकता है, वास्तविक चूहा न हो कर रबर के खिलौने का चूहा भी हो सकता है। और यह प्रयोग किया जा सकता है कि तत्तदुत्तेजक पदार्थ के प्रति कैसी-कैसी प्रतिक्रिया हो सकती है। दूसरी ओर प्रतिक्रिया के स्वरूप में भी अन्तर हो सकता है। एक बिल्ली है जो चूहे को देखते ही लपक पड़ी और धर दबोचा। दूसरी है जो जरा ठहर कर इधर-उधर की परिस्थिति को देख कर शिकार करती है। तीसरी है जो चूहे को देखती भी है, पैंतरेबाजी भी करती है पर कूद नहीं पड़ती है। हो सकता है कि उसके पैर बंधे हों। पहली बिल्ली शतपत्रभेदन-न्याय का उदाहरण है, दूसरी केसकर्तन का, तीसरी शतृ-शानच् प्रत्यय का उदाहरण है। शिकार करना तो चाहती है, मन ही मन शिकार की सारी प्रतिक्रियाओं को (Undergo) कर रही है पर शिकार करती नहीं।

मैंने कहा, शिकार नहीं करती। इसका मतलब यही कि वह तुरन्त चूहे पर झपट नही पडती। परन्तु मन ही मन वह शिकार तो कर ही रही है। अन्तर इतना ही है कि वह शिकार, उछल-कूद, लपक-झपक, पैंतरेबाजी, दुनिया के क्रीड़ा-क्षेत्र में न हो कर मन के अन्दर आन्तरिक क्षेत्र में हो रही है। जो लड़ाई बाहर हो रही थी, वह अन्दर आ गयी है। आचरणवादी (Behaviourist) मनोवैज्ञानिकों ने तो विचार-प्रक्रिया (Thinking) को भी (Sub-vocal talking) ही माना है। अर्थात् जब हम बातें करते हैं तो कहते ही है। पर जब हम चुपचाप विचार मग्न रहते हैं, मौन धारण किये रहते है, उस समय भी हम वार्तालाप ही करते रहते है। भले ही उसमें शब्दों का उच्चारण नहीं होता हो शब्दो को मौखरि अवस्था नही होती हो पर

वह है Talking ही चाहे वह Sub-vocal भले ही हो। जब बिल्ली पशुजगत् को छोड़ कर साहित्य-जगत् में आयेगी तो उसे अपने में थोड़ा परिवर्तन करना होगा, उसे म्याऊँ-म्याऊँ करना छोड़ना होगा, मनुष्य की वाणी में बोलना होगा, समझ-बूझ कर काम करना होगा, अपने पर थोड़ा नियन्त्रण करना होगा। उसे देखना होगा कि यहाँ पर एक वृद्ध जरद्गव बैठा हुआ है जिसके तीक्ष्ण नख तथा चोंचे एक क्षण में उसका काम तमाम कर दे सकते है। अत उसे चान्द्रायण-व्रत-धारिणी बनना पड़ेगा। तभी अभीष्ट-सिद्धि हो सकती है। अर्थात् उसे मनोवैज्ञानिक बनना पड़ेगा। उसे क्रियापूरक, व्यवहारपरक जगत् से अनुचिन्तन जगत् में जाना पडेगा।

चूहे और बिल्ली की बात करते-करते मुझे एक कथा की याद आयी जिसे मैंने बचपन मे अपने वृद्ध पर जिन्दादिल चाचा के मुख से सुना करता था। वे कहानी तो नहीं कहते थे, केवल वडे नाटकीय ढङ्ग से कविता की तरह कुछ पंक्तियाँ पढ़ते थे। मुझे यह तो आज ज्ञात होता है कि उसमें बिल्ली और चूहे की लड़ाई की कथा है, जो मनोवैज्ञानिक स्तर पर चल रही है। वे कहते थे :—

छिपके मारह बिल के ताकह,
छितर-बितर होई जाय
नाँही नीमन बाजाबाजी,
नहि होइहे बियाह,
बिलारी दाई के ओर से बाजे
धरपक धरपा, धरपक धरपा
मुसवन के ओर से बाजे
बिलिये के लगभिर बिलये के लगभिर।

इन पंक्तियों को जब आज याद करता हूँ तो यह कल्पना जागृत हो जाती है कि इनका गायक हो न हो मनोवैज्ञानिक रहा होगा जिसके हृदय में क्रियापरता से अनुचिन्तन का महत्त्व अधिक रहा होगा।

कहीं पर मैंने पढ़ा था कि किसी भाषण की तैयारी तीन बार में पूरी होती है। भाषण एक बार ही में पूरा नहीं होता। उसके लिएँ तीन बार प्रयत्न करना पड़ता है। हाँ, उन लोगो की बाते यहाँ नहीं की जा रही हैं जिन्हें दिन में एक दर्जन भाषण देने पड़ते हैं। ऐसे लोग तो मनुष्य से अधिक मशीन है। साहित्य में मशीन टिक नहीं सकता। प्रथमतः, सामग्री एकत्र की जाती है, अपने तर्क को पुष्ट करने के लिए प्रमाण संगृहीत किये जाते हैं, इन्हें व्यवस्थित ढङ्ग से सजाया जाता है। द्वितीयतः, रङ्गमञ्च पर खड़े हो कर भाषण श्रोताओं के समक्ष उच्चरित होता है। तृतीयत, जब वक्ता भाषण समाप्त कर घर आता है और सोचने लगता है कि उसे भाषण इस ढङ्ग से देना चाहिए था, उससे यह बात छूट गयी यदि वह अमुक स्थान पर कालिदास का उद्धरण दे देता तो उसकी बातों में कितनी प्रभावोत्पादकता बढ़ जाती। एक साधारण व्यक्ति साधारणतः भाषण के दौरान में तीन ही क़दम उठाता है। परन्तु ऐसे व्यक्तियों की भी कल्पना की जा सकती है

जिन्होंने सारा समय भाषण की तैयारी मे कल्पना मे ही लगा दिया परन्तु वास्तविक भाषण देने की नौबत ही नहीं आई मै एसे लोगो को जानता हू जानता हू क्या मै भी एक उनमे हू जो काम तो नहीं कर सकते, पर काम नहीं कर पाने की अपराध-भावना के अनुताप मे अहर्निश जलते ही रहते हैं। वे क्रिया की ड्योढ़ी पर खड़े-खड़े झाँकते रहते हैं और (Thought rehearsal) करते रहते हैं। ऐसे ही पात्रों में जो (Stimulus) के प्रति क्रियाशील तो हों पर शारीरिक स्तर से अधिक मानसिक स्तर पर, मनोवैज्ञानिक चमत्कार अधिक देखने को मिलता है।

कहीं पर मैं अमेरिका के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक कथाकार (Siken) की चर्चा कर आया हूँ। उन्हीं का एक उपन्यास है (Blue Voyage,) उसमें (Damarset) नामक एक पात्र है, वह (Cynthia) नामक एक पात्री को प्यार करता है। वह इङ्गलैंड में रहती है, अतः वह उससे मिलने के लिये जहाज पर सवार हो सामुद्रिक यात्रा करता है। हृदय में उमङ्ग है, उत्साह है, समुद्र मे तरह-तरह की ध्वनि होती है, भिन्न-भिन्न रङ्ग तथा दृश्य देखने को मिलते हैं। अतः लेखक को पात्र की मनोदशा के चित्रण करने के अनेक अवसर प्राप्त होते हैं। पात्र ऐसे (Expensive mood) मे है कि लगता है कि वह अपनी प्रेमिका के चरणों में धूलि बन कर बिछ जायेगा। बाद में पता चलता है कि उसकी प्रेयसी (Cynthia) भी उसी जहाज से यात्रा कर रही है। यह भी मालूम हो जाता है कि उसके हृदय में अब वे पुराने भाव नहीं रह गये हैं, वह उदासीन हो चली है, शायद दूसरे को प्यार भी करने लगी है। यह एक ऐसा अवसर है जो साधारणतः व्यक्ति में क्रिया-तत्परत्व ले आता है, अनेक अकाण्ड-ताण्डवों के लिए प्रेरित करता है। यदि साधारण लेखक के हाथ में यह परिस्थिति होती तो उस जहाज में रक्त की नदी भी बह सकती थी। कम से कम वहाँ दृश्य तो देखने को मिलता ही। यदि यहाँ खत्री जी होते अथवा प्रेमचन्द होते तो क्या होता, यह कल्पना बडी आनन्ददायिनी लगती है।

पर यह कथाकार वैसा कुछ नहीं करता। वह जा कर अपने केबिन में बैठ जाता है और अपनी प्रेयसी के नाम से पत्र लिखता रहता है और इसी तरह उपन्यास की रचना होती जाती है। एक दृष्टि से कथाकार, मतलब घटना का प्रवाह तो रुक जाता है पर दूसरी दृष्टि से मानस के मनोविज्ञान के प्रवाह में तीव्रता आ जाती है। इस कथा पर अब (Stimulus) और (Response) के रूप से विचार करें। क्या ऐसा नहीं लगता कि उस जहाज पर (Stimulus) चूहा, प्रेयसी भी है, प्रतिक्रिया करने वाला नायक बिल्ली भी है। प्रतिक्रिया को तत्पर हो जाने में कोई रुकावट नहीं है पर फिर भी प्रतिक्रिया सामने नही आती। क़ातिल भी है, छुरी भी है, गला भी है। पर फिर भी गला कटता नहीं, काटने की अवस्था में बना रहता है। शुक्ल जी ने कहा है, "वैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है।" हमारा मनोवैज्ञानिक कथाकार पाठकों को आँवला नहीं देता, वह आँवले का मुरब्बा देता है।

कहने का अर्थ यह है कि कथा-साहित्य में मनोविज्ञान की स्थिति की दो अवस्थाओं की कल्पना बड़े मजे में की जा सकती है। अज्ञातावस्था और ज्ञातावस्था, प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक। किसी मनोविज्ञान-वक्ता के आधार पर नामकरण करें तो कह सकते हैं, प्राग्फ्रायड-काल तथा फ्रायडोत्तर-काल। अथवा समय की दृष्टि से बँटवारा करें तो कह सकते हैं, प्राग्विंशति शताब्दी तथा विंशति शताब्दी। प्रथमावस्था में मनोविज्ञान की गति राम के बाण की तरह

अमोघ होती थी उसका प्रतिरोध हो नहीं सकता था वह सीध अपने लक्ष्य पर आ कर चोट करता था दूसरी अवस्था में वह इतना अनियन्त्रित नहीं रह गया उसका स्वरूप अब स्पष्ट हो गया है हम जान गये हैं कि उसका स्वभाव क्या है, हम उसकी गति को रोक सकते हैं, उसकी रफ़्तार को तेज कर सकते हैं, उसे मन्द भी कर सकते हैं, इत्यादि।

हमने ऊपर कहा है कि हम उसकी रफ़्तार को तेज़ कर सकते हैं। इसका क्या अर्थ ? इसका अर्थ यही कि कथाकार घटनाओं के उस स्वरूप को उपस्थित करे जिसमें मनोविज्ञान के किसी विशिष्ट पहलू को प्रदर्शित करने की अत्यधिक क्षमता हो। प्रेमचन्द जी ने रङ्गभूमि में सूरदास को तथा उपन्यास की घटनाओं को इस रूप में सङ्गठित किया है कि उन सबों के बीच में गांधी जी के सत्याग्रह-आन्दोलन को देश की राजनीतिक हलचल को देख लेना सहज है। हाँ, इतना ही कह सकते हैं कि जिस पाठक को भारत के तत्कालीन इतिहास का ज्ञान है उसके लिए इस तरह की झाँकी पा लेना सहजतर है। सम्भव है, इस तरह के ऐतिहासिक ज्ञान के अभाव में भी पाठक के लिए यह उपन्यास केवल अपनी कलात्मकता के बल पर ही आस्वाद्य हो सके, पर इतिहास का ज्ञान इस ओर अतिरिक्त रूप में सहायक हो सकता है, इसमें क्या सन्देह ? कुछ ऐसे उपन्यास भी हो सकते हैं जिनका रसास्वादन ऐतिहासिक ज्ञान के अभाव में सम्भव ही न हो। इस पर विचार करना मनोरञ्जक हो सकता है कि तत्कालीन भारतीय इतिहास के ज्ञान के अभाव में प्रेमचन्द के उपन्यास की आस्वाद्यता में कितना ह्रास होगा ? यदि ऐसा होगा तो कहा जायेगा कि प्रेमचन्द के उपन्यास में इतिहास की रफ़्तार तेज़ है अर्थात् इतिहास, उनके उपन्यास के मूल प्रेरणा हैं।

हिन्दी-कथा-साहित्य से बहुत तो नहीं पर कुछ उदाहरण दिये ही जा सकते हैं जिनमे आधुनिक मनोविज्ञान विशेषत: मनोविश्लेषण की रफ़्तार तेज है, अर्थात् वहीं से कहानी को मूल प्रेरणा प्राप्त हो रही है। मालूम होता है कि मनोविश्लेषण के प्रतिपाद्यों को ही कथा के रूप में उपस्थित करने की चेष्टा की गयी हो, जिस तरह प्रेमचन्द राजनीतिक आन्दोलनों को कथा का जामा पहना कर रख देते थे। इस दृष्टि से मैं प्रो० नलिन विलोचन शर्मा के कहानी-संग्रह 'विष के दांत' को आपके सामने रखूंगा।

यह अवश्य है कि यह कहानी-संग्रह उतना लोकप्रिय नहीं हो सका है। पर इसका कारण यही है कि लोगों को मनोवैज्ञानिक उपपत्तियों से उतना परिचय नहीं है, जितना सामाजिक तथा राजनीतिक आन्दोलनों से। हिन्दी के पाठकों के लिए तो यह और भी सही है। हिन्दी-भाषाभाषी प्रान्तों में हमारे राजनीतिक और सामाजिक आन्दोलन उत्कर्ष पर थे और उन्होंने यहाँ की जनता को झकझोर दिया था। पर हमारे मनोवैज्ञानिक आन्दोलन यहाँ से बहुत दूर, सात समुद्र पार उठ खड़े हुए और हलचल पैदा की है। कुछ प्रतिभावानों ने उनकी झङ्कार को सुना अवश्य पर हम इन मनोवैज्ञानिक रणक्षेत्रों से दूर ही रहे। हमारी आँखों के सामने यह लड़ाई नहीं लड़ी गयी है। अत साहित्य में भी उसकी झङ्कार उतनी नहीं सुनायी पड़ती। हम तो धर्मक्षेत्र और कुरुक्षेत्र तक ही रहे1 अब जो मनोवैज्ञानिक युद्ध की झङ्कार सुनायी पड़ती है, उसमें युद्ध की तात्कालिक उग्रता तथा गर्जन-तर्जन नहीं है। जिन लोगों ने सुना है उनके साहित्य में इसकी गूँज मौजूद है। जो पाठक कथा-साहित्य में मनोविज्ञान के मर्म-मर्म प्रभाव को देखना चाहते हों उन्हें बर्मन, फ्रेन्च,

रूसी तथा अमेरिकन कथा-साहित्य का अध्ययन करना चाहिए। उन्हें पता चल जायेगा कि मनोविज्ञान के तेज रफ़्तार से मेरा क्या अभिप्राय है।

मेरा अभिप्राय 'विष के दाँत' में संगृहीत 'ये बीमार लोग' नामक कहानी से भी स्पष्ट हो सकता। कहानी यो हैं। रानी साहबा विक्रमपुर की तबीयत नासाज़ है। वे रमेश के साथ कलकत्ते आयी हैं। केप्टन चटर्जी से कन्सल्ट करने के लिए और पैराडाइज होटल में ठहरी हुई हैं। वहीं पर धीरेन से मुलाक़ात हो जाती है और वह आज आठ बजे डिनर के लिए सूट नम्बर २ मे निमन्त्रित होता है। डिनर में शैम्पेन, ब्राण्डी वग़ैरह ख़ूब ही चलता है। खैर, धीरेन १० बजे अपने कमरे में चला जाता है। रानी साहबा ११ बजे धीरेन के कमरे में पहुँचती हैं और धीरेन को एक तोहफ़ा दे बातचीत प्रारम्भ ही करती है कि रमेश आ कर रानी साहबा को ले जाता है। थोड़ी ही देर के बाद रानी जी के कमरे में कुछ शोर-गुल आने लगता है। धीरेन कमरे के पास पहुँचता तो ऐसा लगता है कि मानो अन्दर कोड़ा चल रहा हो।

धीरेन ने पर्दा हटा कर देखा और कूद कर अन्दर हो लिया। रमेश रानी साहबा को कोड़े लगा रहा था। रानी साहबा पलँग पर बैठी हुई थीं। वह चीख नहीं रही थीं। कभी-कभी उल्लास और आनन्द में बैठे-बैठे नाच कर चिल्ला उठती थीं। रमेश के पेशानी पर पसीने की बूँदे झलक रही थीं। रमेश थकावट से चूर-चूर हो रहा था। धीरेन हतबुद्धि-सा खड़ा था। रमेश ने कोड़ा उसके हाथ में रख दिया और बगल के कमरे में भाग गया। दरवाज़ा बन्द करते वक़्त उसने कहा, "यही तुम्हें देने गया था। रानी साहबा इसे नीचे ही भूल गयी थी।"

रानी साहबा हँस रही थीं। धीरेन कोड़ा लिये हुए खड़ा था। मनोविश्लेषण से थोड़ा-सा भी परिचय रखने वाले पाठक के लिए यह रानी साहबा में एक ऐसे व्यक्तित्व का दर्शन पा लेना सहज है जिसे आत्मपीड़क (Masochist) कहते हैं। कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जो दूसरों से शारीरिक पीड़ा पा कर ही अपनी कामलिप्सा की तृप्ति उपलब्ध करते हैं। यही रानी साहबा थीं। इसी तरह के पात्र को लाने के लिए ही इस कहानी की रचना हुई है और यह स्पष्टत कथा-साहित्य में मनोविश्लेषण का सचेतन प्रभाव है। यही मनोविज्ञान की ज्ञातावस्था है जिसमे उसकी रफ़्तार की तेजी नजर आती है।

फ्रायड-प्रतिपादित मनोविश्लेषण के प्रभाव के विना कथा-साहित्य में इस तरह के पात्रों का प्रवेश असम्भव था। कथा-साहित्य में पीड़ा पहुँचा कर, मार कर, धमका कर, हिंसा और बल का प्रयोग कर प्रेमिका को वशीभूत करना कोई नयी बात नहीं है। कन्यापहरण कर लेना, उन्हें इच्छा के विरुद्ध भी छीन कर ले जाना साहित्य का अति साधारण तथा सुपरिचित कार्य रहा है पर जिस ढङ्ग से यहाँ पर घटनाओं की योजना की गयी है, वह अभूतपूर्व अवश्य है। प्राचीन कथाओं के पात्र सीधे-सादे मानव थे, उनकी भावनाएँ दमित नहीं थी, न तो उनके मस्तिष्क में कोई सूक्ष्म पेचीदगी ही थी जो उन्हें असाधारण रूप से परिचालित करे। पर इस कहानी की रानी साहबा इतनी सीधी सादी नहीं है। रमेश की वे स्वामिनी हैं। रमेश एक तरह से उनका सेवक है। अभी तक घण्टे भर पूर्व रानी साहबा रमेश को डपटती हुई कह रही थीं, "तुम्हें कभी अक़्ल भी आयेगी? मैंने सूप के लिए तुम्हें क्या हिदायत दी थी? ...." और अभी वे ही रमेश के कोड़ों की मार पर

खुशी से नाच-नाच उठती हैं किमत आश्चर्यमपरम्! पर आधुनिक मनोविज्ञान से परिचित व्यक्ति के लिए इसमे कोई भी विचित्रता नही है।

वास्तव में देखा जाय तो आधुनिक मनोविज्ञान के ज्ञाता पाठक के लिए तो प्राचीन कथा-साहित्य में मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों की सूक्ष्मता और विचित्रता को ढूँढ़ लेना कठिन नहीं है। लोगों ने शेक्सपियर, मिल्टन, पोप, ड्राइडेन इत्यादि के साहित्य का भी इस दृष्टि से अध्ययन किया ही है। हम चाहें तो कालिदास, तुलसी, सूर, केशव इत्यादि का भी इस ढंग का अध्ययन सम्भव हो सकता है। पर इस तरह के अध्ययन से इतना ही निष्कर्ष निकल सकता है कि इन कवियो का मानव-मन सम्बन्धी ज्ञान कितना गम्भीर और विस्तृत था। इनकी प्रतिभा की किरण मानव-मन की अतल गहराई में प्रवेश कर सकती थी, उस युग में जब कि वहाँ पहुँचने के लिए साधन का नितान्त अभाव था। आज तो मनोवैज्ञानिकों की सतत साधना ने मनोऽन्तःपुर प्रवेश के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया है, सड़कें बन गयी हैं, उन पर मील के पत्थर भी खड़े कर दिये हैं, लैम्प पोस्ट भी लग गये है। पर उस समय का कवि, प्रतिभा की किरण के सहारे पहुँचा था। अतः हमारे लिए वह नमस्य है।

यदि कथाकार भी मनोविज्ञान का ज्ञाता हो और वह मनोविज्ञान के क्षेत्र से सामग्री लाकर उसे कलात्मक रूप देता हो, दूसरी ओर पाठक भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि सम्पन्न हो तो कहना ही क्या? 'विष के दाँत' की कुछ कहानियाँ मनोवैज्ञानिक कथाकार के द्वारा मनोवैज्ञानिक पाठक के लिए लिखी गयी हैं। अंग्रेजी के प्रसिद्ध समालोचक आई० ए० रिचार्ड्स ने साहित्यिक सिद्धान्तों की चर्चा करते हुए कहा है -

"A satisfactory work of imaginative literature represents a kind of psychological adjustment in the author which is valuable for personality, and that the reader, if he knows how to read properly, can have this adjustment communicated to him by reading the work."

अर्थात् "कोई भी कल्पनात्मक साहित्यिक कृति सफल तभी कही जा सकती है, जब वह लेखक के व्यक्तित्व-संवर्धक मनोवैज्ञानिक सन्तुलन का प्रतिनिधित्व करे और उस कृति के अध्ययन से पाठक में भी, यदि वह समुचित रूप से पढ़ना जानता है तो इस सन्तुलन को प्रेषणीय बना सके।" इन्हीं शब्दों को उधार ले कर मैं यह कह सकता हूँ इस तरह के मनोवैज्ञानिक सन्तुलन, लेखक और पाठक दोनों की दृष्टि से—वार्ता कथा-साहित्य हिन्दी में कम है, पर वह पनपने अवश्य लगा है।

इस लेख में दो बातों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया गया। प्रथमतः तो यह कि मनोविज्ञान के प्रभाव के कारण कथा साहित्य में मानसिक ग्रन्थियों की चर्चा होने लगी है। द्वितीयतः यह कि यदि हम कथा-साहित्य में वर्णित घटनाओं को उत्तेजक पदार्थ (Stimulus) एवं प्रतिक्रिया (Response) के रूप में देखें तो हमारे (Unit of conception) में अभिवृद्धि हो। तृतीयतः यह कि हम जहाँ तक कथा-साहित्य में मनोविज्ञान के प्रवेश का प्रश्न है, इसकी दो अवस्थाओ की कल्पना कर सकते हैं, अज्ञातावस्था और ज्ञातावस्था। यूरोपीय कथा-साहित्य में तो मनोविज्ञान की ज्ञातावस्था की झलक बड़े ही उग्र रूप में पायी जाती है। डी० एच० लारेंस, वर्जीनिया वुल्फ, जेम्स ज्वायस इत्यादि की रचनाएँ इसके प्रमाण है। हिन्दी में भी नलिन विलोचन शर्मा, अज्ञेय जैनेन्द्र की कहानियाँ प्रमाण के लिए उपस्थित की जा सकती हैं

कबीर द्वारा प्रयुक्त कुछ गूढ़ तथा अप्रचलित शब्द

•

पारसनाथ तिवारी

मध्यकाल के प्राय: सभी प्रमुख हिन्दी-कवियों ने ऐसे अनेक शब्द अपनी रचनाओं में प्रयुक्त किये हैं जो उस समय तो जनता में प्रचलित रहे होंगे, किन्तु आज उनका प्रचलन कम होने के कारण और कोशों में भी अधिकांश का उल्लेख न होने के कारण उनके टीकाकारों को प्राय भ्रम हो जाया करता है। प्रस्तुत निबन्ध में कबीर द्वारा प्रयुक्त कतिपय ऐसे ही शब्दों के उपयुक्त अर्थ ढूंढ़ने का प्रयास किया गया है। ये सभी शब्द उनके पदों से लिये गये हैं और स्थल-निर्देश हिन्दी परिषद, प्रयाग विश्वविद्यालय, द्वारा प्रकाशित 'कबीर-ग्रन्थावली' के अनुसार हैं। विवेच्य शब्द क्रमश: निम्नलिखित हैं।

(१) गिलारि

पद २६-१०: 'खंभा तें प्रगट्यौ गिलारि। हिरनांकस मार्‍यौ नख बिदारि ॥' ना० प्र० सभा द्वारा प्रकाशित 'कबीर-ग्रन्थावली' के एक टीकाकार श्री पुष्पपाल सिंह ने उपर्युक्त पंक्ति की जो टीका दी है उससे प्रतीत होता है कि उन्होंने गिलारि का 'नृसिंह' अर्थ ग्रहण किया है। किन्तु यह अर्थ अनुमानजनित है, यह आगे के विवेचन से स्पष्ट हो जाएगा। इस शब्द के पाठान्तरों से ज्ञात होता है कि बहुत पहले ही लोग इसके ठीक अर्थ से अनभिज्ञ होने के कारण इससे दूर भागने की कोशिश कर रहे थे। कबीरचौरा से प्रकाशित 'शब्दावली' में इसका पाठान्तर 'मुरारि' मिलता है। 'गुरु ग्रन्थसाहब' में उपर्युक्त पंक्ति का पाठ इस रूप में मिलता है: 'प्रभु थंभ तें निकसे करि बिसथार।' किन्तु पाठ निर्धारण का यह एक मान्य सिद्धान्त है कि प्राय: अनगढ़ और क्लिष्टतर रूप प्राचीनतर सिद्ध होते हैं—भले ही उनका अर्थ हम सरलता से न समझ पाएँ। मैंने कबीर-वाणी का पाठ-निर्णय करते समय इसी सिद्धान्त के अनुसार 'गिलारि' पाठ ग्रहण कर लिया; किन्तु उसके उपयुक्त अर्थ की चिन्ता भी स्वाभाविक थी। इस शब्द के उचित अर्थ का समाधान 'बखना वाणी' की एक पंक्ति से हो सकता है, जो इस प्रकार है · 'थंभा मांहि ग्विलारया। तैं जन प्रहलाद । —स्वामी मङ्गलदास सम्पादित पद १६-५)

इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि 'कबीर-ग्रन्थावली' का 'गिलारि' (—गरज कर) क्रियापद है, न कि संज्ञापद, जैसा कि उसके उपर्युक्त टीकाकार ने समझा है। स्वामी मङ्गलदासजी ने 'बखना-वाणी' की टिप्पणी में 'गिलार्या' का अर्थ दिया है : 'गर्जना की', और यही अर्थ इस प्रसङ्ग में उपयुक्त भी लगता है। फिर भी इसकी व्युत्पत्ति की समस्या विचारणीय है।' बखना दादूपंथी थे और कबीर से अत्यधिक प्रभावित थे। अतः यह अनुमान कदाचित् असङ्गत न होगा कि प्रह्लाद-सम्बन्धी समान प्रसङ्ग में इस शब्द का प्रयोग सम्भवतः उन्होंने कबीर से ही प्रभावित हो कर किया है।

(२) चवै

पद २८.२ : 'हरिजन हंस दसा लिएं डोलै। निरमल नांव चवै जस बोलै।।' 'बीजक' में दूसरी पंक्ति का पाठान्तर है : 'निरमल नाम चुनोचुनि बोलै।' 'चवै' का अर्थ पहले स्पष्ट न रहने के कारण मैंने बीजक-पाठ की सहायता से 'चवै' के स्थान पर 'चुनै' रखा था; किन्तु 'सन्देशरासक' (९४.२ : 'आलिंगणु अवलोयण चुंबणु चवणु सुरय रसु।') से इसका समुचित अर्थ मिल गया और मुझे 'कबीर-ग्रन्थावली' के शुद्धिपत्र में इस परिवर्तन की सूचना देनी पड़ी। यहाँ यह सङ्केत कर देना आवश्यक है कि कबीर या 'सन्देशरासक' के कर्ता अब्दुल रहमान के 'चवै' या 'चवणु' तुलसी के 'बिधुबिष चवै स्रवै हिमु आगी।' (रामचरित मानस, अयोध्या काण्ड—१६८) में मिलने वाले 'चवै' के समान 'चूना' या 'प्रस्रवण' के बोधक नहीं हैं, प्रत्युत् दोनों ही स्थलों पर वे बोलने के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। (तुल०, 'पाइअ सद्द महण्णवो; चव' =बोलना) जिसके समानान्तर प्रयोग मध्यकालीन साहित्य में भी दुर्लभ हैं।

(३) जंबूरै

पद ३४-९ : 'जुगति जबूंरै पाइया बिसहर लपटाई।' अवधी तथा भोजपुरी में 'जम्बूरा' मदारी के सहायक को कहते हैं; किन्तु इस शब्द की व्युत्पत्ति का कुछ पता नहीं लगता और न तो किसी कोश में ही यह शब्द मिल सका है।

(४) पांन

पद ५३.७ : 'जोलहै तनि बुनि पांन न पावल। फारि बिनै दस ठांई हो।' कबीर में 'पान' शब्द कई अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। एक तो मुहावरे के रूप में जैसे साखी २२-७-१ में : पसुवा सौं पांनौं परौ (तुल०, आधुनिक मुहावरा—पाला पड़ना)। दूसरे प्रकार अर्थ में जैसे रमैनी २-२ : 'कोई न पूजै बासौं पांनां।' अथवा साखी १७-८-२ में—'तहां नहीं काल का पांन।' (समान प्रयोग के लिए तुलनीय बखना पद १५९.१ : 'भौजल क्यूं तिरूं रे म्हारो पांन न पूजै कोइ।') और तीसरे बुनाई के धन्धे में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द के रूप में। जुलाहों का 'पांन' क्या है, इसका कुछ अनुमान दादू की इन पंक्तियों से लगाया जा सकता है :—

> प्रेम पाण लगाई धागै तत्त तेल निज दीया।
> एक मनां इस आरंभ लागा ग्यांन राछ भरि लीया।।

इससे यह ज्ञात होत है कि पान सूत मे लगाया जाने वाला कोइ पदाथ हे कबीर वाणी की एक प्र.चान टीका मे भी (जिसका रचयित अज्ञात है द० हिन्दा अनुशीलन वष १३, अङ्क ४) 'पान' के साथ 'प्रेम' शब्द जोड़ दिया गया है—'प्रेम प्रीति नहीं, प्रेम पान लाई।' अन्य टीकाओं से इस स्थल के सम्बन्ध मे कोई सहायता नही मिलती। 'हिन्दी शब्दसागर' (पृ० २०७६) में सुझाया गया है कि सूत को माड़ी से तर करके ताना करने की क्रिया को जुलाहों की शब्दावली में 'पान लगाना' कहते है। प्रस्तुत प्रसङ्ग मे इस शब्द का प्रयोग पिछले दोनों अर्थो मे हो सकता है—तार पाने के अर्थ में अथवा माड़ी लगाकर सूत का ताना करने के अर्थ मे। वयन-व्यवसाय का प्रसङ्ग होने के कारण पिछला अर्थ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

(५) अहरखि अथवा आहर

पद ६५–१ : 'मन रे अहरखि बाद न कीजै। अपनां सुक्रित भरि भरि लीजै॥' जिन प्रतियों में कबीर का यह पद उपलब्ध होता है, सभी में 'अहरखि' पाठ ही है, किन्तु इसकी व्युत्पत्ति स्पष्ट नहीं है। विभिन्न विद्वानों ने इसके विभिन्न अर्थ सुझाये हैं। उदाहरणार्थ, 'भोजन के लिए' (डा० रामकुमार वर्मा, सन्त कबीर, परि०, पृ० १२२); हिर्स में पड़ कर या दूसरे की देखा-देखी (पं० परशुराम चतुर्वेदी, पत्र द्वारा); अहं + रखि अर्थात् गर्वपूर्वक (श्री नरोत्तमदास स्वामी, पत्र द्वारा); अहर्निश (श्री पुष्पपाल सिंह; कबीर-ग्रन्थावली सटीक, पृ० ३५३) आदि। किन्तु इन सुझावों के आधार क्या है, यह स्पष्ट ज्ञात नही होता। इसीलिए मैंने 'कबीरग्रन्थावली' मे इस पाठ को ग्रहण करते हुए भी यह सुझाव दिया है कि कदाचित् मूल-पाठ आहर रहा था और अहरखि उसी का विकृत रूप है। किन्तु आहर शब्द का प्रयोग भी विरल ही है। कुछ स्थल इस सम्बन्ध में विशेष रूप से तुलनीय हैं; यथा—

> (क) आहर सभि करदा फिरै, आहरु इकु न होइ।
> नानक जितु आहरि जगु ऊधरै, बिरला बूझै कोइ॥
> (—गुरु अर्जुनदेव, गुरुग्रन्थ साहब, पृ० ९६५)

यहाँ इसका अर्थ उद्यम ज्ञात होता है। तुलनीय—वी० एस० आप्टे: संस्कृत-इङ्गलिश-डिक्शनरी, 'आहर'—संज्ञा = अकाम्प्लिशिंग, परफ़ार्मिंग (पृ० ९१)

> (ख) कत तप कीन्ह छाँड़ि कै राजू।
> आहर गएउ न भा सिधि काजू॥
> —जायसी : पदमावत् डॉ० माताप्रसाद गुप्त-सम्पादित छन्द २०४-६)

> (ग) जेइं जग जनमि न तोंहि पहिचांनां।
> आहर जनम मुएं पछितांनां॥
> (—मञ्झन : मधुमालती, मा० प्र० गुप्त-सम्पादित छन्द ५-१)

'हिन्दी शब्दसागर' में 'पदमावत' में प्रयुक्त 'आहर' का उदाहरण देकर इसे सं० अह (दिन) से व्युत्पन्न बताया गया है और इसका अर्थ समय दिया गया है किन्तु यह व्युत्पत्ति

सन्तोषजनक नहीं लगती। डॉ० माताप्रसाद जी ने 'मधुमालती' में इसके विकास का क्रम इस प्रकार दिया है: सं० अफल>प्रा० अहल>पुरानी हिन्दी आहर (=निष्फल, व्यर्थ)। कबीर, जायसी, और मञ्झन—इन तीनों के ऊपर उद्धृत प्रयोगों के सम्बन्ध में इस अर्थ की संगति बैठ जाती है। अर्जुनदेव ने चूंकि अफल से व्युत्पन्न आहर का नहीं, प्रत्युत् आहर (तत्सम) का ही प्रयोग किया है, अतः उनका अर्थ भिन्न हो गया है। इस प्रकार 'मन आहर कहूं बाद न कीजै' का उपयुक्त अर्थ होगा—ऐ मन, व्यर्थ के लिए विवाद या बकवाद मत कर।

(६) गोंदरी

पद वही पंक्ति ९: 'काहू गरी गोंदरी नाहीं काहू सेज पयारा।' 'गोंदरी' का अर्थ एक टीकाकार ने प्याज़ दिया है, किन्तु 'गोंदरी' वस्तुतः सं० गुन्द्रा (घास-विशेष) से बना है जिसका अर्थ है पुवाल या कुश-कास से बनी हुई चटाई। अवधी में अब भी 'गोंदरा' या 'गोंदरी' इसी अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। अतः 'गरी-गोंदरी' नारियल और प्याज़ का बोधक नहीं, बल्कि सड़ी-गली चटाई का बोधक है।

(७) तनीं-तागरी

पद वही, पंक्ति १०: 'चिरकुट फारि चुहाड़ा लै गयो तनीं तागरी छूटी।' रीति तथा कृष्ण-काव्य में 'तनी' और 'तगड़ी' क्रमशः चोलीबन्द और करधनी के अर्थ मे बहुत प्रयुक्त हुए है, जैसे—'सोहत चोली चारु तनी' (—परमानन्ददास, ३७६) अथवा, 'अञ्जन नैन तिलक सेंदुर छबि चोली चारु तनी' (कुम्भनदास, २१७)। भूषण ने चोली के ही अर्थ मे इसका प्रयोग किया है, यथा: 'तनियां न तिलक सुथनियां पगनियां न घामैं घुमरात छोड़ि सेजियां सुखन की।' किन्तु कबीर के प्रयोगों से ध्वनित होता है कि उन्होने इन दोनों वस्तुओं का उल्लेख केवल स्त्रियो के वस्त्राभूषण समझ कर नहीं, प्रत्युत् पुरुषों द्वारा धारण किये जानेवाले उपादान समझ कर किया है और इस बात के प्रमाण अन्यत्र भी मिलते हैं। मिर्ज़ा खाँकृत 'तुहफ़तुल् हिन्द' नामक हिन्दी-फ़ारसी कोश में, जिसकी एक हस्तलिखित प्रति इण्डिया आफिस लाइब्रेरी, लन्दन, से कुछ समय पूर्व प्रयाग-विश्वविद्यालय के शोधछात्र अचलानन्द जखमोला के निमित्त यहाँ की लाइब्रेरी में आयी थी, पृ० २२८ ए पर 'तनी' शब्द के लिए 'बंदजामा व अम्साले आँ बुवद'—टिप्पणी दी हुई है जिससे ज्ञात होता है कि यह बन्दजामा की तरह का कोई वस्त्र था जिसे पुरुष भी धारण करते थे। तुलसी ने तनिया को स्पष्ट रूप से कटि भाग का वस्त्र बताया है:

'तनिया ललित कटि, बिचित्र टिपारो सीस, मुनि मनहरत बचन कहै तोतरात।' तथा
'कनक रतन मनि जटित रटत कटि किंकिनि कलित पीत पट तनियाँ' (—गीतावली: बैजनाथ-सम्पादित, नवलकिशोर प्रेस, संस्करण, पृ० ९६)

तागड़ी या कटिसूत्र पहले पुरुष भी पहना करते थे। हर्ष में प्राग्ज्योतिषेश्वर के दूत हंसवेग को 'मोतियों से बना हुआ परिवेश नामक कटिसूत्र और माणिक्य-खचित तरङ्गण नामक एवं बहुत-सा भोजन के सामान भेजा था (—हर्षचरित एक सांस्कृतिक

में डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल द्वारा पृ० १७१ पर उद्धृत) शव को जलाते समय उसे समस्त बन्धनों से मुक्त कर देते है, अतः अन्तिम समय में तनी-तागड़ी भी उतार लेते है—यही कवि का मूलभाव है। दुर्बोधता के कारण ही विभिन्न प्रतियों में इसके अनेक पाठान्तर मिलते हैं। उदाहरणार्थ, 'गुरु-ग्रन्थसाहब' में 'तरी तागरी' (प्राचीन नागरी में 'न' और 'र' एक से होते थे; कदाचित् इसी भ्रम से तनी के स्थान पर तरी); दादूपन्थी पोथी में 'तणी तणगर्नी', निरञ्जनी-सम्प्रदाय की पोथी में 'तड़ी तामड़ी' इत्यादि। प्रस्तुत प्रसङ्ग में कबीर द्वारा प्रयुक्त 'तनीं' तुलसी के 'तनिया' के अधिक निकट का प्रतीत होता है। अतः 'तनीं तागरी' का अर्थ यहां कछनी और कटिसूत्र अधिक उपयुक्त जँचता है।

(८) कबिता

पद ८५-५ :'कबित्त पढ़े पढ़ि कबिता मूए कापड़ी केदारे जाई।' यहाँ 'कबिता' काव्य करने वाला अर्थात् कवि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है जो आजकल के पाठकों को कुछ विलक्षण-सा लगेगा, किन्तु कुछ मध्यकालीन कवियों में (विशेषतया सन्तों और सूफियों में) इसका समान अर्थ में प्रयोग मिल जाता है; जैसे उसमान—कृत 'चित्रावली' के छन्द ६१७ में 'कबितन्ह रुपन कथा कै गाई।'

(९) गौंहनि

पद १०९-१ 'मैं सासुरे पिय गौंहनि आई।' 'गौंहनि' अर्थात् पास, निकट, साथ। तुल० 'देवजू गोहन लागे फिरै गहि के गहिरे रङ्ग में गहिराऊ' तथा जायसी 'भए बरात गोहन सब राजा' (—पद्मावत २७७-२)। आजकल के शिक्षित साहित्यिक को, जिसका सम्बन्ध ग्राम्य-जीवन से कम है, यह शब्द अपरिचित सा लगेगा, किन्तु अवधी तथा भोजपुरी में यह शब्द अब भी प्रचलित है। गाँव से सँटी हुई धरती को 'गौहान' या 'गोहानी' कहा जाता है। डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने गौहान, गोहना, गोहन आदि को सं० गोधान से व्युत्पन्न माने जाने का प्रस्ताव किया है। (—ग्रामोद्योग और उनकी शब्दावली, भूमिका पृ० ९)। अवधी में गोहन लगुवा उसे कहते है जो छाया की तरह किसी के पीछे लगा रहे।

(१०) माहा

पद १११-१ : 'रामुराय चर्ला बिनावन माहो। घर छोड़े जाइ जुलाहो।' यहाँ 'माहो' का अर्थ प्रायः सभी टीकाकारों ने माया दिया है; केवल एक राजस्थानी टीकाकार ने इसका अर्थ उत्तम वस्त्र दिया है, जो पर्याप्त सन्तोषप्रद लगता है— 'ऊँचा कपड़ा माहा सो ऊँचो भगति' (—दे०, 'कबीरवाणी की एक प्राचीनतम टीका, हिन्दी अनुशीलन, वर्ष १३, अङ्क ४, अक्टूबर-दिसम्बर १९६०)। किन्तु यह शब्द न तो किसी अन्य कवि की रचना में मिल सका है और न किसी कोश में ही हो सका है

(११) मिनिअै

पद वही, — ५: 'गजै न मिनिअै तोलि न तुलिअै। पहजन सेर अढ़ाई।' 'गजै न मिनिअै' पाठ 'गुरु ग्रन्थसाहब' का है जिसके अनेक सरलतर पाठान्तर मिलते हैं जैसे—निरञ्जनी सम्प्रदाय की पोथी मे और रज्जब द्वारा सङ्कलित 'सर्बङ्गी' में 'गजह न मार्यै' बीजक में 'गज्ज न अम्बाई' आदि। किन्तु पाठालोचन के सिद्धान्तों के अनुसार यहाँ अपेक्षाकृत अधिक गूढ़ और कम प्रचलित पाठ 'मिनिअै' ही ग्रहण किया गया। किन्तु इस शब्द की ठीक पहचान तब तक न हो सकी जब तक कि बखना की निम्नलिखित पंक्तियाँ न मिल गयीं:—

> गगनि धरणि जिन थाप्या। सो मिण्यां न जाई माप्या॥
> (—बखना जी की वाणी, मङ्गलदास सम्पादित, पद ४३-६)
> तथा—रतन मिल्यौ पणि परिख न आई।
> तोल्यो जोख्यो मिण्यो न जाई॥ (—वही, पद १०५-३)

तुल० पाइअ० 'मिण'=स० क्रि० परिमाण करना, मापना। यह शब्द वस्तुतः असीरी बेबिलोनी 'मिना' या 'मिनह' से व्युत्पन्न है जो तौल की एक माप का सूचक है और आर्यो ने असीरी-बेबिलोनी से यह शब्द वेदों में 'मना' के रूप में ग्रहण किया (—सुनीतिकुमार चटर्जी, भारतीय आर्यभाषा और लिपि, पृष्ठ ३१)। आगे चलकर 'मन' के रूप में यह अनेक पूर्वी देशो मे तौल की एक इकाई बन गया (ई० नॉरिस: ऑन असीरियन ऐण्ड बैबिलोनियन वेट्स—जे० आर० ऐ० एस० ऑव ग्रेटब्रिटेन, खण्ड १६, पृष्ठ २१५। किन्तु मध्यकालीन हिन्दी कवियो ने तथा प्राकृत-अपभ्रंश के कवियों ने इसका प्रयोग मापने के अर्थ में (तौलने के अर्थ में नहीं) किया है। अरबी मे एक शब्द 'मिनवाल' मिलता है जिसका अर्थ है करघे का वह बेलन जिस पर कपडा लपेटा जाता है। कदाचित् इसी आधार पर डॉ० रामकुमार जी ने इसका अर्थ बेलन पर लिपटना किया है (सन्त कबीर, परि०, पृ० १६ तथा १४४), किन्तु प्रसङ्ग आदि की दृष्टि से और बखना के समान प्रयोग की दृष्टि से इसका ऊपर सुझाया हुआ अर्थ अधिक उपयुक्त लगता है। इस शब्द के उपयुक्त अर्थ से अवगत न होने के कारण लिपिकारों ने भी उसके अनेक सरलतर पाठान्तर आविष्कृत कर लिये।

(१२-१३) धौल तथा गड़री

पद ११४.३: 'धौल मंदलिया बैल रबाबी कउवा ताल बजावै।' तथा पंक्ति ७: 'कहै कबीर सुनहु रे संतो गड़री परबत खावा॥' कबीर-वाणी की प्राचीनतम उपलब्ध टीका में (जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है) 'धौल' का अर्थ उज्ज्वल किया गया है—'धौल ऊजल मन सोई मद-लिया' उसकी आधुनिकतम प्रकाशित टीका में 'कबीर ग्रन्थावली' (ना०प्र०स०) का 'धौल मदलिया बैलर बाबी' पाठ प्रामाणिक मान कर इस पंक्ति का अर्थ किया गया है—"ढोल, मृदङ्ग, बाँबी आदि विविध वाद्य संसार में माया-आकर्षणों के रूप में बज रहे हैं, विषय-वासना की ओर एकदम लपकने वाला कौवा-रूपी जीव भी इन आकर्षणों की गति में अपने को

छोड़ देता है (– प्रो० पुष्पपाल सिंह कबीर ग्रन्थावली सटीक पृष्ठ २९९) डा० रामकुमार जी ने बहुत पहले ही कबीर ग्रन्थावली (ना० प्र० स०) का इस पाठ-विकृति का निर्देश कर दिया था (सन्त कबीर, प्रस्तावना, पृ० ७)। फिर भी पुष्पपाल सिंह जी को व्यर्थ की ऊहापोह करनी पड़ी। 'बाँबी' कौन बाजा होता है और 'धौल' ढोल का वाचक कैसे हो गया, इसकी ओर उन्होंने तनिक भी ध्यान नहीं दिया। कबीर का 'धौल' हमारी समझ से जायसी के 'धौर' से अभिन्न है : 'धौरी पण्डुक कहु पिय ठाऊं। जो चितरोख न दोसर नाऊं।' (—पदमावत ३५८-४; मा० प्र० गुप्त-सम्पादित)। 'धौरी' को डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने धवर पक्षी बताया है जो फ़ाख्ता की जाति का होता है। इसी प्रकार 'गड़री' की पहचान भी जायसी और उसमान द्वारा प्रयुक्त 'गुड़रू' (एक चिड़िया) से की जा सकती है। तुल० पदमावत ५४१-४ पर डॉ० अग्रवाल की सञ्जीवनी-टीका और चित्रावली ६२-६ : 'उसर बगेरा गुड़रू जावा।' 'गड़री' या 'गुड़रू' अवश्य ही कोई छोटी चिड़िया होगी जिसके विरोध में पर्वत की विशालता के उल्लेख से कबीर की उलटवांसी फबती है। किन्तु भ्रमवश कुछ टीकाकारों ने इसे 'गाडर' (= भेंड) का पर्याय समझ लिया। पुष्पपाल सिंह जी ने तो इसे 'गड़रिन' (=भेंड़ चरानेवाली) तक मान लिया। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि भेंड़ के लिए कबीर ने 'गाड़र' शब्द का ही प्रयोग किया है। जैसे 'गाड़र आंनीं ऊन कौं बांधी चरै कपास।' यदि यहाँ भी गाड़र (=भेंड) ही उनका अभीष्ट होता तो समान मात्रा का शब्द होने के कारण उसे भी सरलता से रखा जा सकता था; फिर भी कबीर ने 'गड़री' का प्रयोग किया जिसका तात्पर्य यह है कि वह अवश्य ही 'गाड़र' से भिन्न अर्थ का द्योतक है।

(१४) पढ़िया

पद ११९-१ : 'जाइ पूछौ गोविन्द पढ़िया पण्डिता तेरा कौन गुरू कौन चेला।' विशेष बात यह है कि 'पढ़िया' यहाँ क्रियापद के रूप में नहीं, बल्कि विशेषण के रूप में प्रयुक्त है (सं० पठित > प्रा० पढिदा अप० और पुरानी हिन्दी पढ़िया)। ठीक इसी स्वर में गोरखनाथ ने भी 'पढ़िया' का प्रयोग पण्डित के लिए किया है; तुल० गोरखबानी सबदी २२-२ : सतबिद गुरु गोरख कहिया बूझिले पण्डित पढ़िया तथा पद १८-९ : यह परमारथ कहौ हो पण्डित रुग जुग स्यांम अथरबन पढ़िया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर ने तत्कालीन जन-समाज में प्रचलित ऐसे अनेक शब्दों का प्रयोग किया है जिनका ठीक-ठीक अर्थ समझने के लिए हमें अन्य मध्यकालीन कवियों तथा प्राकृत एवं अपभ्रंश के कवियों विशेषतया नाथ योगियों तथा बौद्ध सिद्धों की रचनाओं का भी अनुशीलन करना पड़ता है; साथ ही अवधी, भोजपुरी आदि जनपदीय बोलियों की ठेठ शब्दावली से भी परिचय प्राप्त करना अपेक्षित हो जाता है अन्यथा ऐसे स्थलों पर हमें भ्रम हो जाना स्वाभाविक है।

सन्दर्भ-सङ्केत

१. अपने वरिष्ठ सहयोगी डॉ० जगदीश गुप्त के सुझाव पर मैंने 'गिलगमेश' (बेबिलोनी-असुरी आख्यानों में वर्णित एक अपरिमेय शक्ति के योद्धा) सम्बन्धी साहित्य का अवलोकन कर उससे इस शब्द के सम्बन्ध की सम्भावनाओं पर विचार किया। गिलगमेश अपने परवर्ती हरकुलीस की भाँति अत्यन्त शक्तिशाली था और उरुक नामक महान् नगर का अधिपति था। प्राचीनतर अभिलेखों में इसका नाम 'इज़दुबार' मिलता है। हौप्ट नामक जर्मन विद्वान् ने गिलगमेश सम्बन्धी प्राचीन आख्यान का संग्रह कर उसका सम्पादन किया है। उसने ईबनी (आधा नर और आधा पशु), अलु (अत्यन्त भयङ्कर साँड़) और खम्बाबा को पराजित किया था और सिंह से भी लड़ाई की थी। अनेक प्राचीन मुद्राओं में गिलगमेश को भयङ्कर साँड़ तथा सिंह से लड़ते हुए चित्रित किया गया है (जास्ट्रो: रेलिजन ऑव बेबिलोनिया एण्ड असीरिया, पृष्ठ ४८८)। भारतीय पौराणिक देवताओं में से अनेक बेबिलोनी देवताओं से मिलते हैं। तुलनार्थ, बालि—बेबि० बेल (पाताल का देवता); पार्वती—बेबि० निन खर-सग (महान् पर्वतों की देवी); सरस्वती—बेबि० बाउ (सं० वाक्)। गिलगमेश यद्यपि नृसिंह-रूप तो नहीं, किन्तु देवत्व और मनुजत्व का सम्मिश्रण माना गया है। और फिर दोनों शब्दों में ध्वनि-साम्य भी है। अतः दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध की कल्पना निराधार नहीं कही जा सकती। फिर 'गिलारना' क्रिया का अर्थ नृसिंहवत् या सिंहवत् गरजना किया जाएगा। फिर भी इसकी व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में अभी निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता।

रामचन्द्रिका का प्रबन्धत्व तथा केशव का उद्देश्य

•

रामदीन मिश्र

लेख का मूल प्रतिपाद्य : केशवदास का उद्देश्य था
'रामचन्द्रिका' के माध्यम से
नाटक की उस परम्परा को साहित्यिक रूप देना,
जो लोकनाटक, लीला, रास आदि के रूप में
जनता के बीच में जीवित था,
न कि प्रबन्ध-काव्य की रचना करना

केशवदास के प्राय: सभी आलोचकों ने रामचन्द्रिका को एक असफल प्रबन्ध-काव्य माना है। वस्तुत: इस रूप में रामचन्द्रिका की आलोचना सर्वप्रथम आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' में की और तभी से इस सम्बन्ध में प्राय: शुक्ल जी के मत का ही पिष्ट-पेषण होता आ रहा है। इधर हाल में डॉ० विजयपाल सिंह ने अपने शोध-प्रबन्ध 'केशव और उनका साहित्य' में 'केशव की प्रबन्ध-पटुता' शीर्षक के अन्तर्गत रामचन्द्रिका के प्रबन्धत्व पर विचार किया है और इसे सफल प्रबन्ध-काव्य बताया है। परन्तु डॉ० सिंह का यह विवेचन न तो किसी तर्क-पद्धति पर आधारित है और न उन्होंने अपने पूर्व के आलोचकों द्वारा प्रबन्ध-कल्पना की दृष्टि से रामचन्द्रिका पर किये गये आक्षेपों का ही तर्कसम्मत खण्डन किया है। डॉ० सिंह का निर्णय भावात्मक आवेश में दिया गया ही माना जायगा। सर्वप्रथम तो उन्होंने आचार्य विश्वनाथ द्वारा दिये गये महाकाव्य के लक्षणों को उद्धृत किया है और हिन्दी में उनका अनुवाद किया है, तदनन्तर यह निष्कर्ष प्रस्तुत कर दिया है कि "केशवदास जी के महाकाव्य 'रामचन्द्रिका' में उक्त लक्षणों का उचित निर्वाह भी हुआ है।" डॉ० सिंह ने यह देखने की चेष्टा नहीं की है कि रामचन्द्रिका केवल आचार्य विश्वनाथ द्वारा स्थापित महाकाव्य के चौखटे भर में ही फिट हो पाती है

था उसमें महाकाव्य की आत्मा भी है। आगे डॉ० सिंह ने जिस विधि से रामचन्द्रिका में बतायी गयी 'त्रुटियों' का 'समाधान' किया है उसके लिए उन्हीं का कथन द्रष्टव्य है (उद्धरण के विस्तार के हेतु मैं क्षमा चाहूँगा, किन्तु इसके विना विवेचन में अपेक्षित स्पष्टता का अभाव रहेगा।):—

"कुछ प्रसङ्गों की सूचना मात्र, तथा कुछ वर्णनों के विस्तार से प्रेरित हो कर कुछ अर्वाचीन आलोचक 'रामचन्द्रिका' में महाकाव्य की दृष्टि से त्रुटियाँ बतलाते हैं। उनका कथन है कि महाकाव्य में प्रबन्धत्व के लिए कथावस्तु की शृङ्खला में सब कड़ियों का स्पष्ट दर्शन होना चाहिए। परन्तु 'रामचन्द्रिका' में इसका अभाव है। इसके समाधान में यह जान लेना अपेक्षित है कि महाकाव्य, जीवन-चरित तथा इतिहास में अन्तर है। इतिहास में तो कथानक की सभी घटनाओं का रहना आवश्यक होता है, परन्तु प्रतिभाशाली कवि तो अपनी वृत्ति के अनुकूल कुछ स्थल-विशेष चुन लेता है और इन्हीं का क्रमिक वर्णन कर के प्रबन्धत्व की अवतारणा करता है। गोस्वामी तुलसीदास जी को प्रबन्धात्मकता की दृष्टि से 'आगे चले बहुरि रघुराई' का महत्त्व भले ही हो, केशव के लिए इस यथातथ्य चित्रण में कोई आकर्षण नहीं। दूसरी बात यह है कि रामकथा भारत जैसे धर्मप्राण देश के जन-जीवन में ऐसे घुल-मिल गयी है कि यदि उसके कुछ विवरण छोड़ भी दिये जाएँ, तब भी एकसूत्रता में व्याघात नहीं हो सकता, क्योंकि पाठक या श्रोता बहुश्रुत होने के कारण शेष वस्तु का स्वयं अध्याहार कर लेता है। तीसरे, केशव ने अपनी राजनीति एवं कूटनीति की विद्वत्ता के कारण अनेक स्थलों पर अपनी मौलिकता का परिचय देते हुए परम्परागत कथावस्तु में ऐसा मोड़ दिया है कि वह देखते ही बनता है। प्रबन्धात्मकता के अभाव की अपेक्षा हमें तो सरसता का ही अनुभव होता है। चौथे, केशव को राम की चन्द्रिका अभीष्ट थी। वे राम के वैभव तथा राजसी ठाट-बाट का वर्णन करना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने अपनी पुस्तक का नाम 'रामचन्द्रिका' रखा। इसके लिए राम-राज्याभिषेक के उपरान्त उन्हें पूरा-पूरा अवसर मिला।"[१]

प्रस्तुत उद्धरण में दिये गये समाधान रामचन्द्रिका से लेखक के रागात्मक सम्बन्ध की अभिव्यक्ति के रूप में ही दीख पड़ते हैं। आलोचक का निष्पक्ष और तटस्थ दृष्टि का अभाव ही हमें यहाँ दृष्टिगोचर होता है। यह बात लेखक के अगले कथन से और स्पष्ट हो जाती है:—

"कुछ आलोचकों को संवादों की बहुलता के कारण भी प्रबन्ध-धारा में गतिरोध दिखायी पड़ता है। यह कथन तो ऐसा प्रतीत होता है मानो बिना समझे कह दिया गया हो। क्या स्रोतस्विनी के किनारे पर अवस्थित मनोहर पादप-राशि से उसके पयः की पूर्णता में किसी प्रकार की रुकावट आ सकती है?"[२]

आचार्य शुक्ल ने रामचन्द्रिका को असफल प्रबन्ध-काव्य घोषित करते हुए प्रबन्ध-काव्य के लिए तीन बातें अनिवार्य बतायी थीं:—"(१) सम्बन्ध-निर्वाह, (२) कथा के गम्भीर और मार्मिक स्थलों की पहचान तथा (३) दृश्यों की स्थानगत विशेषता।"[४] और इन कसौटियो पर उन्होने रामचन्द्रिका को खरा नहीं पाया। इसके पूर्व ही उन्होंने केशवदास के सम्बन्ध मे अपना निर्णय दे दिया था कि "केशव को कवि-हृदय नहीं मिला था। उनमें वह सहृदयता और भावुकता न थी जो एक कवि में होनी चाहिए।"[५] वस्तुतः शुक्ल जी की दृष्टि उपयोगितावादी थी और वे किसी भी ऐसे काव्य को सफल काव्य की पंक्ति में रखने को तैयार न थे जिसमे मानव की भावना न हो अपनी देते समय उनकी दृष्टि सवदा तुलसी

पर टिकी रहती थी और तुलसी तथा लोकरञ्जक पक्ष की दृष्टि से ही वे किसी कवि की रचना का मूल्य आँका करते थे। साथ ही मुक्तक रचना के लिए उनके हृदय में विशेष स्थान न था। इन कतिपय मान्यताओं के विपरीत या इनसे अलग यदि किसी कवि की रचना हुई तो वह शुक्ल जी के निर्मम प्रहार का शिकार हुए बिना नहीं रह सकता। यही कारण है कि बेचारे केशवदास को भी शुक्ल जी का कोपभाजन बनना पड़ा।

शुक्ल जी के बाद भी केशवदास के सम्बन्ध में जो अध्ययन अब तक हुआ है, उसमें केशवदास का उचित मूल्य नहीं आंका जा सका है। फिर भी नये सन्दर्भों में केशवदास के जीवन, उनके परिवेश और परिस्थितियों को ध्यान में रख कर उनका जो अध्ययन हुआ है और हो रहा है, वह केशवदास के असली महत्त्व को साहित्य के अध्येताओं के सम्मुख क्रमशः उपस्थित करता जा रहा है। किन्तु रामचन्द्रिका के सम्बन्ध में आज भी शुक्ल जी के निर्णय ज्यों के त्यों हैं और विभिन्न अध्ययनों के बावजूद भी कोई नयी स्थापना नहीं दी जा सकी है। यह तो निश्चित ही है कि प्रबन्ध-काव्य की दृष्टि से रामचन्द्रिका सफल नहीं है, पर क्या रामचन्द्रिका की रचना में केशवदास का यही उद्देश्य था? क्या तुलसीदास की तरह केशवदास ने भी प्रबन्ध-काव्य लिखने का बीड़ा उठाया था? तुलसी भक्त कवि थे और बार-बार "कवि न होउँ नहि चतुर कहाऊँ", "कवित विवेक एक नहि मोरे" जैसे कथनों में अपने लक्ष्य और अपनी योग्यता की घोषणा करने के बाद भी वे धीरे से कह देते हैं, "जे प्रबन्ध नहि बुध आदरहीं। सो स्रम बादि बाल कवि करहीं॥"

केशव ने रामचन्द्रिका को इस प्रकार प्रबन्ध-काव्य बनाने की घोषणा कहीं नहीं की है। तुलसी और केशव लगभग समकालीन थे पर दोनों की परिस्थितियों और परिवेशों में महान् अन्तर था। दोनों की परिस्थितियाँ बिलकुल विपरीत थीं। तुलसी ने संसार से वैराग्य ले लिया था, पर केशव का जीवन चरम विलासिता के बीच बीत रहा था। भिखारीदास के अनुसार तो केशव की काव्य-रचना का उद्देश्य अर्थोपार्जन ही था :—

"एक लहैं बहु सम्पति केसव भूषन ज्यों बरबीर बड़ाई।"[१]

तुलसी अपने प्रारम्भिक जीवन में कथावाचक रह चुके थे। फलतः वे सामान्य जनता की रुचि से परिचित थे और 'रामचरितमानस' में उन्होंने अपने इस अनुभव का पूर्ण उपयोग किया। केशव दरबारी वातावरण के जीव थे। फलतः रामचन्द्रिका या अन्य रचनाओं में उनकी वृत्ति ऐसे ही स्थलों पर ही अधिक रमी है और सफलता उन्हें उन्हीं स्थलों में अधिक मिली है।

यदि ध्यान से देखा जाय तो स्पष्ट हो जाएगा कि रामचन्द्रिका को प्रबन्ध-काव्य का रूप देना केशव का लक्ष्य न था। केशव के सभी आलोचकों ने रामचन्द्रिका को प्रबन्ध-काव्य मान कर ही उसकी असफलता की घोषणा की है। शुक्ल जी के लिए यही अपेक्षित था क्योंकि वे प्रबन्ध-काव्य को ही काव्य का आदर्श मानते थे और किसी काव्य के मूल्याङ्कन के लिए उनके विचार में यह सब से बड़ी कसौटी थी। पर बाद के आलोचकों ने भी शुक्ल जी की पद्धति का ही अनुसरण किया और रामचन्द्रिका को पहले प्रबन्ध-काव्य मान लिया, फिर उसकी आलोचना की। रामचन्द्रिका पर शुक्ल जी द्वारा किये गये आक्षेपों को ही यदि हम ध्यान से देखें तो बात बहुत कुछ समझ में आ सकती है।

रामचन्द्रिका पर शुक्ल जी का प्रथम आक्षेप था, "सम्बन्ध-निर्वाह की क्षमता केशव में न थी।"[७] आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र का मत भी इस सम्बन्ध में कुछ इसी प्रकार का है, "इनके प्रसिद्ध महाकाव्य रामचन्द्रिका में भी प्रबन्धत्व परिपूर्ण नहीं। प्रबन्ध के लिए कथा का क्रमबद्ध रूप और अवसर के अनुकूल विस्तार-संकोच अपेक्षित होता है। रामचन्द्रिका में इसका ध्यान नहीं रखा गया है।"[८] इस प्रकार रामचन्द्रिका के प्रबन्धत्व की सब से बड़ी त्रुटि कथा की क्रमबद्धता का अभाव या कथा के विभिन्न अंशों में सम्बन्ध-निर्वाह की कमी है। रामचन्द्रिका में ली गयी राम-कथा का अध्ययन करने पर इस सम्बन्ध में निम्न तथ्य हमारे सामने आते हैं —

(१) अनेक स्थलों पर केशव ने परम्परा से प्रसिद्ध राम-कथा में परिवर्तन कर दिये है, यथा विश्वामित्र के आश्रम में ब्राह्मण का आना और जनकपुर के यज्ञ का वर्णन करना तथा ऋषिपत्नी के चित्र मे राम की समता दिखाना, सुमति-विमति-संवाद, चित्रकूट में गङ्गा के द्वारा भरत को कहलाना कि राम देव-कार्य से जा रहे हैं, अतः वह उन्हें न रोके, लङ्का का हनुमान के सम्मुख प्रकट होना और दोनों में संवाद, रावण के द्वारा लक्ष्मण को शक्ति लगना, सुषेन वैद्य का बिलकुल उल्लेख नहीं, आदि।

(२) अनेक स्थलों में केशव ने कथा को इतना अधिक सङ्कुचित कर दिया है कि कथा का सूत्र ही टूटता प्रतीत होता है। काव्य की दृष्टि से अत्यन्त मार्मिक प्रसङ्गों का केशव ने या तो उल्लेख ही नहीं किया या नाम भर ले कर चलता कर दिया है। उदाहरण के लिए, रामजन्म और बचपन की कथा को केशव ने छोड़ दिया है। रामचन्द्रिका में कथा का आरम्भ विश्वामित्र के अयोध्या-आगमन से होता है। इसके अतिरिक्त मन्थरा का बिलकुल उल्लेख नहीं, कैकेयी के वर माँगने का प्रसङ्ग केवल एक ही छन्द में, भरत का आगमन और कैकेयी का वार्तालाप एक ही छन्द मे, निषाद-प्रसङ्ग का उल्लेख भी नहीं, राम-वन-गमन का बहुत थोड़ा और केवल आलङ्कारिक वर्णन, आदि।

(३) जहाँ-जहाँ केशव ने घटनाओं या दृश्यों का वर्णन किया है, प्रायः सन्तुलन का निर्वाह नही हो पाया है। इन वर्णनो मे एक तो आलङ्कारिक चमत्कार की प्रधानता है, दूसरे दरबारी मनोवृत्ति का परिचय मिलता है। प्राकृतिक दृश्यो की सहज-स्वाभाविक छवि का आभास भी पाठक को नहीं मिल पाता। रामचन्द्रिका के उत्तरार्ध के अधिकांश वर्णन दरबारी ऐयाशी की अभिव्यक्ति मात्र हैं, उनका आरोप राम पर भले हुआ है। इन वर्णनों के कारण रामचन्द्रिका की महाकाव्यात्मक गरिमा अक्षुण्ण नहीं रह पाती। शुक्ल जी ने रामचन्द्रिका की जिस तीसरी त्रुटि की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया था, वह इसमें 'दृश्यों की स्थानगत विशेषता' का अभाव था। इन्हीं कारणों से शुक्ल जी ने निर्णय दिया कि "प्रबन्ध-रचना के योग्य न तो केशव में अनुभूति ही थी, न शक्ति।"[९]

परन्तु शुक्ल जी ने विवेचन के पूर्व ही मान लिया था कि केशव को "एक बड़ा प्रबन्ध-काव्य भी लिखने की इच्छा हुई और उन्होंने उसके लिए राम की कथा ले ली।"[१०] स्वयं केशवदास ने सम्पूर्ण रामचन्द्रिका में या अन्यत्र कहीं भी इस प्रकार की इच्छा व्यक्त नहीं की है। उन्होंने रामचन्द्रिका की रचना का कारण बताते हुए कहा है कि "एक दिन वाल्मीकि मुनि ने उन्हें स्वप्न मे दर्शन दिया और उनके पूछने पर कि 'सुखसार' की प्राप्ति उन्हें किस प्रकार होगी उन्हें राम का

गणगान करने को कहा मनि के इसी आदेश के पालन हेतु केशव ने रामचन्द्रिका की रचना की केशव ने रामचन्द्रिका की रचना अपने जिस निश्चय के कारण की, वह रामचन्द्रिका के निम्न छन्द में स्पष्ट है:—

जिनको यश हंसा, जगत प्रशंसा, मुनि जन मानस रन्ता।
लोचन अनुरूपनि श्याम सरूपिनि अञ्जन अञ्जित सन्ता।।
कालत्रय-दरशी निर्गुण-परशी होत बिलम्ब न लागे।
तिनके गुण कहिहौं सब सुख लहिहौं पाप पुरातन भागे।।"[11]

कहीं भी केशव ने रामचन्द्रिका को न तो प्रबन्ध कहा है और न प्रबन्ध-काव्य रचने की इच्छा ही व्यक्त की है। केशव के अनुसार रामचन्द्रिका का एक ही उद्देश्य है, राम-गुणगान, ताकि उनके पाप कट जायें और उन्हें सभी प्रकार के सुखों की प्राप्ति हो। इस प्रकार रामचन्द्रिका को भक्ति-परक ग्रन्थ होना चाहिए, पर इस दृष्टि से भी हम पाते हैं कि रामचन्द्रिका सफल नहीं दीखती। स्थान-स्थान पर केशव ने राम का वर्णन परब्रह्म के रूप में अवश्य किया है पर राम के सम्पूर्ण चरित्र से यह कहीं भी व्यक्त नहीं होता कि केशव ने रामचन्द्रिका की रचना केवल भक्ति की तन्मयता की दृष्टि से की है। रामचन्द्रिका के उत्तरार्ध में राम का जो रूप हमारे सम्मुख आता है वह निश्चय ही परब्रह्म का रूप नहीं वरन् किसी विलासी राजा का चित्रण है जो उद्यान की सैर, चौगान के खेल और कामिनियों की जल-क्रीड़ा में अधिक रस लेता है। इस प्रकार 'कालत्रय दरशी निर्गुण परशी' ब्रह्म के गुण-कथन का बीड़ा उठा कर भी केशव ऐसा नहीं कर पाते।

फिर भी यह सिद्ध नहीं होता कि केशव ने प्रबन्ध-काव्य के रूप में रामचन्द्रिका की रचना करने की प्रतिज्ञा की थी। अब हम रामचन्द्रिका पर प्रबन्ध-काव्य की असफलता की दृष्टि से किये गये विभिन्न आक्षेपों के विवेचन से निःसृत तथ्यों पर विचार करें।

राम-कथा के मार्मिक स्थलों की ओर केशव का ध्यान नहीं गया, इसका कारण क्या हो सकता है? केशवदास एक ऐसे कुल में उत्पन्न हुए थे, जिस पर उनको गर्व है। उस कुल के दास भी 'भाषा' बोलना नहीं जानते थे। पर उसी कुल में जन्म ले कर केशवदास भाषा-कवि हुए, इसका उन्हें विशेष पश्चात्ताप था।[12] केशवदास विद्वान् थे और संस्कृत का उन्होंने विस्तृत अध्ययन किया था। वे संस्कृत में रचनाएँ भी कर सकते थे, पर परिस्थितियाँ संस्कृत-रचना के अनुकूल न थीं। अतः उन्हें 'भाषा' का ही आश्रय लेना पड़ा। अपनी रामचन्द्रिका में उन्होंने जिन संस्कृत ग्रन्थों का आधार वर्णनों या संवादों में लिया है, उनसे यह भली भाँति सिद्ध हो जाता है कि उन्हें केवल संस्कृत-साहित्य-शास्त्र का ही नहीं, वरन् काव्य, नाटक आदि सभी का विस्तृत परिज्ञान था। वाल्मीकि मुनि के स्वप्न से तो उनकी रचना शुरू ही होती है। इतना होने पर भी केशव यदि राम-कथा में कुछ परिवर्तन करते हैं, या कथा के मार्मिक स्थलों की मार्मिकता से कोई लाभ नहीं उठाते और उन्हें छोड़ देते हैं, तो इससे उनकी अयोग्यता सिद्ध नहीं होती। थोड़ी देर के लिए यह मान भी लिया जाय कि प्रबन्ध-काव्य की रचना की क्षमता उनमें न थी, फिर भी वाल्मीकि आदि के वर्णन से वे अभिभूत तो हो ही सकते थे। जब आदिकवि का वर्णन एक सामान्य पाठक के हृदय को आकृष्ट कर लेता है तो केशव जैसे विद्वान् और सहृदय (उनकी सहृदयता में शङ्का के लिए

तो कोई स्थान नहीं) कवि को अभिभूत न करे, यह समझ में आने की बात नहीं। और यदि सचमुच केशव इन वर्णनों से अभिभूत हुए तो कम से कम अनुवाद और नकल के ही रूप में सही, पर रामचन्द्रिका में इन्हें स्थान अवश्य मिलता, उनमें सजीवता और मौलिकता का अभाव भले होता। ऐसा भी नहीं कि केशव ने कहीं से कुछ नहीं लिया है। उनकी तो प्रतिभा ही पल्लवग्राही थी और इसका प्रमाण केशव पर लिखने वाले सभी विद्वानों ने कुछ न कुछ दिया ही है। उन्हे दुहराना पिष्ट-पेषण मात्र होगा। स्पष्टतः यह बात सामने आती है कि केशव ऐसा चाहते नहीं थे और यदि राम-कथा के मार्मिक स्थलों का उन्होंने रामचन्द्रिका में उपयोग नहीं किया तो जानबूझ कर ही। कदाचित् ऐसा करने में उनका कोई निश्चित उद्देश्य था।

विचारणीय यह है कि केशव का वह उद्देश्य क्या था? इसके विवेचन के लिए निम्न-तथ्यों पर विचार करना अपेक्षित होगा। प्रथम तो यह कि केशव ने परम्परा से प्रसिद्ध राम-कथा मे जो परिवर्तन किये हैं, या विभिन्न स्थलों का जो विस्तार-सङ्कोच किया है, इसके पीछे कोई कारण है या केशव की मनमानी है। द्वितीय, रामचन्द्रिका की शैली अधिकांशतः संवादात्मक है, कथात्मक नहीं। केशव ने नाटक के समान पात्रों के नाम संवाद में पद्य से पृथक् ही रखे हे। आचार्य शुक्ल इसमें केशव की असमर्थता और विवशता पाते हैं। उनका कहना है, "कथा का चलता प्रवाह न रख सकने के कारण ही उन्हें बोलने वाले पात्रों के नाम नाटकों के अनुकरण पर पद्यों से अलग सूचित करने पड़े हैं।"[13] आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने भी कुछ इसी प्रकार का निष्कर्ष इस सम्बन्ध में दिया है। वे कहते हैं, "नाटकों का आधार लेने से और कथा-भाग को छोड देने से संवाद के वक्ताओं के नाम इन्हे पद्य से पृथक् रखने पड़े है। तीसरी बात जो इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण है, वह यह कि केशव ने रामचन्द्रिका में काव्य की अपेक्षा नाटकों का ही आधार विशेषतः ग्रहण किया है, कथा में किये गये परिवर्तनों के भी अधिकांश आधार हमे 'अनर्घराघव', 'हनुमन्नाटक' आदि नाटकों में मिल जाते हैं।

वस्तुतः केशव का उद्देश्य रामचन्द्रिका को प्रबन्ध से अधिक दृश्य या अभिनयात्मक बनाना था। यदि इस दृष्टि से हम रामचन्द्रिका पर विचार करें तो प्रबन्ध-काव्य की दृष्टि से दीख पडने वाली बहुत-सी त्रुटियों का मार्जन हो जाएगा तथा रामचन्द्रिका का एक विशेष महत्त्व हमारे समक्ष स्पष्ट होने लगेगा। फिर भी रामचन्द्रिका विशुद्ध नाटक की कोटि में नहीं आ सकती। इसका कारण यह है कि केशव के समय तक ही नहीं वरन् उसके बहुत बाद तक हिन्दी में गद्य का अभाव था। अतः गद्य का कार्य भी नाटककार को पद्य से ही लेना था। दृश्य-सङ्केत या रङ्ग-मञ्च-निर्देश भी उसे पद्य के सहारे ही करना था। साथ ही संस्कृत की नाट्य-परम्परा बहुत पहले ही समाप्त हो गयी थी और केशवदास के समय तक कतिपय रास-नाटकों या लीला-नाटको के अतिरिक्त कोई परम्परा न थी। इन लीला-नाटकों का रङ्गमञ्च बहुत सादा होता था और इनकी भाषा पद्य ही होती थी। इनमें न तो पदो का विधान था और न रङ्गमञ्च पर दृश्य ही सजाये जाते थे। एक व्यक्ति, जिसे सूत्रधार कहा जा सकता है, आदि से अन्त तक उपस्थित होता था और कथा-भाग या दृश्य-परिवर्तन की सूचना पद्य में ही दिया करता था। विभिन्न प्रकार के प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन भी वही करता था।

आगे चल कर जो रामलीला की परम्परा चली उसमें भी यही पद्धति अपनायी गयी।

आज भी यात्रा-नाटकों या रामलीला कृष्णलीला जसी लीलाओं में एक ओर कतिपय व्यक्ति विभिन्न वाद्यों के साथ सम्मिलित रूप से कथा-भाग गा कर सुनाते हैं और साथ ही अभिनयात्मक स्थल पर अभिनय किये जाते हैं। भारत के पश्चिमोत्तर भाग में आज भी रामलीला में केशव के संवाद अधिक प्रिय हैं और प्राय: उन्हीं का उपयोग किया जाता है। ग्रीक नाटकों में भी कोरस की प्रथा थी, जो कथा-भाग गा कर सुनाया करता था। संस्कृत नाटकों में भी दृश्यों की सूचना देने के लिए पात्रों की ही व्यवस्था होती थी। आज की तरह दृश्य का विधान रङ्गमञ्च पर नहीं होता था, वरन् किसी पात्र के मुख से वर्णन द्वारा ही दर्शकों को दृश्यों की कल्पना करा दी जाती थी।

नाटक की इस पद्धति और केशव के युग को ध्यान में रखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि रामचन्द्रिका के माध्यम से केशव ने हिन्दी में नाटक की परम्परा को आगे बढ़ाना चाहा था, किन्तु कुछ तो केशव की अपनी वर्णन-प्रियता तथा दरबारी मनोवृत्ति के कारण और कुछ आगे के कवियों द्वारा इस दिशा में प्रयत्न नहीं किये जाने के कारण यह परम्परा नहीं चल सकी और नाटक का पुनरुद्धार भारतेन्दु के द्वारा ही हुआ।

केशव के इस उद्देश्य पर ध्यान देने से रामचन्द्रिका में गृहीत राम-कथा में किये गये परिवर्तनों का कारण भी मिल जाता है। प्रारम्भ में वाल्मीकि मुनि का स्वप्न में दर्शन देना, अभिनय की दृष्टि से अत्यन्त ही प्रभावोत्पादक और नाटकीय सिद्ध होता है। कथा का आरम्भ वस्तुत विश्वामित्र के आगमन से होता है। तथ्य तो यह है कि इसके पूर्व नाटकीयता की दृष्टि से राम-कथा में कुछ है ही नहीं। तीसरे प्रकाश में ब्राह्मण का आगमन और जनकपुर के स्वयंवर का वर्णन भी इस दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है। इस योजना में हम कवि की दूर की सूझ पाते हैं। आज भी मनोवैज्ञानिकता की दृष्टि से नाटकों में ऐसे दृश्यों का समावेश किया जाता है। कथा में ब्राह्मण के मुख से वर्णन होता है, पर वस्तुत: वह वर्णन जनकपुर के दृश्यों में अभिनीत हो कर रङ्गमञ्च पर प्रस्तुत होता है। इस प्रकार की नाटकीय सूझ केशव के महत्त्व की ही परिचायक है। केशव रामचन्द्रिका के इस रूप के लिए आलोचना के नहीं वरन् प्रशंसा के पात्र हैं। संवादों की उपयुक्तता, चुस्ती और पात्रों की हाजिरजबाबी का लोहा तो शुक्ल जी जैसे केशव के कठोर आलोचक को भी मानना ही पड़ा। केशव पर लिखने वाले विद्वानों ने इस क्षेत्र में केशव के महत्त्व पर पर्याप्त प्रकाश डाला है।

रामचन्द्रिका की इस अभिनयात्मकता की राह में केशव की अतिशय आलङ्कारिक वर्णन-प्रियता अवश्य बाधा-स्वरूप उपस्थित होती है। पर प्राचीन नाटकों में कुछ तो वर्णन होते ही थे, यहाँ तक कि भारतेन्दु-लिखित 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक में भी गङ्गा का वर्णन इसी शैली के अन्तर्गत है। वस्तुत: रामचन्द्रिका का पूर्वार्ध ही अभिनेय है। रावण-वध के बाद राम-कथा वहीं समाप्त भी हो जाती है। इस पूर्वार्ध में दृश्यों के वर्णन बहुत अधिक नहीं हैं और जो थोड़े-बहुत हैं भी वे या तो संवाद-शैली में ही हैं, जिनका अभिनय हो सकता है या फिर सूत्रधार के द्वारा दृश्य-सूचना के अन्तर्गत उनका निर्वाह किया जा सकता है। शुक्ल जी द्वारा बहुधा-कथित मार्मिक स्थलों का उपयोग यदि केशव ने नहीं किया है तो उसका कारण भी यही है कि केशव की दृष्टि वस्तुत: रामचन्द्रिका को अभिनयात्मक बनाने की थी और मार्मिक स्थलों के विस्तार में जाने से

नाटकीयता और सवादों की चुभन में शिथिलता आने की सम्भावना होती। वर्णन में, श्रव्य-रूप मे जो मार्मिकता है, दृश्य-रूप में उसकी मार्मिकता का अक्षुण्ण रहना सम्भव भी नहीं।

रामचन्द्रिका पर एक आक्षेप है, उसमें अतिशय छन्द-परिवर्तन। यदि अभिनय की दृष्टि को ध्यान में रख कर हम देखें तो छन्द-परिवर्तन की उपयोगिता भी स्पष्ट हो जाएगी। जहाँ एक-जैसे भाव रहे हैं वहाँ प्राय: छन्द में परिवर्तन नहीं दीख पड़ते। फिर वर्णनों मे प्रायः छन्द नही बदलते। इसके विपरीत सवादों में और नाटकीय स्थलों मे छन्द बहुत अधिक बदलते हैं। छन्दो का यह परिवर्तन वस्तुतः रामचन्द्रिका की नाटकीयता में योग-दान ही करता है। केशवदास ने रामचन्द्रिका में आगे आने वाली कथा का निर्देश प्रकाश के अन्त में न कर, उसी प्रकाश के आदि मे किया है जिसमें कथा का वह भाग घटित होता है। यह पद्धति भी उसकी नाटकीयता को ही पुष्ट करती है, जहाँ सूत्रधार अभिनय के प्रारम्भ मे आगे आने वाली कथा की ओर इशारा भर कर देता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि केशवदास का उद्देश्य रामचन्द्रिका के माध्यम से नाटक की उस परम्परा को साहित्यिक रूप देना था, जो लोकनाटक, लीला, रास आदि के रूप मे जनता के बीच जीवित थी, न कि प्रबन्ध-काव्य की रचना करना। किन्तु इस दृष्टि से भी रामचन्द्रिका का पूर्वार्ध ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। कथा का यदि थोडा ही अंश रामचन्द्रिका मे गृहीत हुआ है तो उसका भी कारण यही है कि नाटक की कथा संक्षिप्त ही होती है। अधिक लम्बी कथा का निर्वाह अभिनय में नहीं हो पाता। उत्तरार्ध में वस्तुत: कथा बिलकुल है ही नहीं। अभिनय के लिए द्वन्द्व अथवा सङ्घर्ष की अपेक्षा होती है, समावस्था का अभिनय दर्शक को प्रभावित नही कर सकता। रामचन्द्रिका के उत्तरार्ध में राजा राम के दैनिक क्रिया-कलापों का ही अधिक वर्णन है जिसमे अभिनय के लिए अधिक स्थान नहीं। वस्तुतः रामचन्द्रिका के इस अंश में केशव की एक दूसरी मनोवृत्ति का चित्रण मिलता है। कविप्रिया में केशव ने कविशिक्षा के रूप मे कवियो के लिए जिन वस्तुओं के वर्णन अपेक्षित बतलाये है, रामचन्द्रिका के उत्तरार्ध में उन्होंने अपने इन्ही सिद्धान्तों के व्यावहारिक प्रयोग किये हैं। केवल लव-कुश के साथ भरतादि के युद्ध का प्रसङ्ग अत्यन्त नाटकीय हो सका है। इस प्रकार रामचन्द्रिका के उत्तरार्ध में केशव की दरबारी और कवि-शिक्षक वाली मनोवृत्ति प्रबल हो उठी। वस्तुतः दोनों ही अंशों के उद्देश्य भिन्न हैं। यदि इस दृष्टि से देखा जाय तो केशव का इस क्षेत्र में अपना महत्त्व है, और रामचन्द्रिका को बरबस प्रबन्ध-काव्य बना कर उसे असफल करार देने में हम केशव के साथ उचित न्याय नहीं करते।

सन्दर्भ-सङ्केत

१. केशव और उनका साहित्य, पृ० २९४।

२. वही, पृ० २९५।

३. वही, पृष्ठ २९५।

४. रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २१०।

५. वही, पृष्ठ २०९।

६ भिखारीदास : काव्य-निर्णय अध्याय १ छन्द १०।

७ हिन्दी-साहित्य का इतिहास पष्ठ २१०। ८ हिन्दी-साहित्य का अतीत पष्ठ ३९९

९. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २११।

१०. वही, पृष्ठ २१०।

११. रामचन्द्रिका, पहिला प्रकाश, छन्द संख्या २०।

१२. भाषा बोलि न जानहीं जिनके कुल के दास।
भाषा कवि भो मन्दमति तेहि कुल केशवदास।।
(—कविप्रिया, दूसरा प्रभाव, छन्द सं० १०)

१३. हिन्दी-साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ २१०।

१४. हिन्दी-साहित्य का अतीत, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृष्ठ ३९०।

ऐतिहासिक उपन्यास और इतिहास

●

गोविन्दजी

●

दृष्टि-अनुदृष्टि, विधान-विधा रचना-उत्स तथा सृजन-प्रक्रिया
के स्तर पर ऐतिहासिक उपन्यास
एवं इतिहास के अन्तर की गम्भीर गवेषणा

'ऐतिहासिक उपन्यास' ऐसी कला-कृतियों में से एक है जो विभिन्न कलाओं के पारस्परिक संयोग से उत्पन्न होती हैं। जिस प्रकार सङ्गीत, कविता तथा नाट्य-कला के पारस्परिक सम्मिलन से एक नयी कला 'सङ्गीत-नाट्य' की उत्पत्ति होती है जो रूपाभिव्यक्ति में अपने तीनों पूर्ववर्ती कला-रूपों से भिन्न होती है, उसी प्रकार ऐतिहासिक उपन्यास भी उपन्यास कला और इतिहास का विलयन है। ऐतिहासिक तथ्य अथवा घटनाएँ जब मनःकल्पना के पंखों पर चढ़कर उपन्यास-कला के क्षेत्र में प्रविष्ट होती हैं तो ऐतिहासिक उपन्यास का जन्म होता है, ठीक वैसे ही, जैसे कविता, सङ्गीत के सहारे गीत में बदल जाती है। और जैसे सङ्गीतकार सङ्गीत में बाँधने के लिए किसी कविता का चुनाव करते समय कुछ विशिष्ट सीमाओं को स्वीकार करता है, और उस चुनी हुई कविता तथा उसमें निहित मूल-भावनाओं के प्रति निष्ठावान् बन कर ही उसे सङ्गीत में बाँधता है, वैसे ही ऐतिहासिक उपन्यासकार को भी उस इतिहास के प्रति निष्ठावान् रहना पड़ता है जिसका वह उपन्यास में उपयोग करता है।

अतीत की पुनस्सर्जना

वाल्तेर के मतानुसार इतिहास मानव-कार्य-कलाप की समग्र अभिव्यञ्जनाओं का वृत्तान्त है। इसमें जीवन के समस्त पक्षों का सामञ्जस्य सन्निहित रहता है। अतः इसका लक्ष्य राजनीतिक घटनाओं की तालिका मात्र प्रस्तुत करना ही नहीं है, वरन् जन-जीवन के विविध पक्षों की चित्रमयी अभिव्यक्ति उपस्थित करना है।[1] ऐतिहासिक उपन्यास का लक्ष्य भी इतिहास के लक्ष्य के ही समान अतीत के जन-जीवन के विविध पक्षों के आलोक में जीवन के शाश्वत सत्यों का उद्घाटन करना तथा विविध मानवीय संवेदनाओं का विस्तार कर भावनाओं एवं विचारों के बीच सामञ्जस्य स्थापित करना है। किन्तु, इतिहास के लक्ष्य के समानान्तर लक्ष्य रखते हुए भी ऐतिहासिक उपन्यास इतिहास नहीं है। वह इतिहास से निर्झरित एक ऐसा कथा-रूप है जिसकी प्रकृति एक सीमा तक इतिहास की प्रकृति के निकट होती हुई भी उससे भिन्न है। कोई भी ऐतिहासिक उपन्यास, चाहे वह उच्च कोटि का ही क्यों न हो इतिहास का विशिष्ट कार्य नहीं कर सकता और न उससे

हम ऐतिहासिक तथ्यों एवं घटनाओं का अनुसंधान ही कर सकते हैं कारण कि वह अतीत की वास्तविक घटनाओं एवं तथ्यों का विवरण नहीं प्रस्तुत करता जो कि इतिहास करता है तथ्यों एवं घटनाओं का वर्णन तो उसमें कभी-कभी ही प्रसङ्गवश होता है। वह तो इतिहास का एक बहाना मात्र ले कर घटनाओं एवं तथ्यों को नहीं वरन् अतीत को पुनरुज्जीवित करने का प्रयत्न करता है। ऐतिहासिक उपन्यासकार का मोह तथ्यों एवं घटनाओं के वर्णन के प्रति न होकर उनके नाटकीय पुनस्सर्जना (dramatic recreation) के प्रति होता है। वह विशिष्ट काल के वातावरण एवं उसकी भावनात्मक परिस्थिति (emotional temper) को पुनर्नियोजित कर उसे पुनरुज्जीवित करने का प्रयास करता है।

इतिहास की तरह ऐतिहासिक उपन्यास भी मानव-जीवन की कथा को प्रस्तुत करता है। किन्तु इसमें ऐसी सूक्ष्म बातें, अचेतन पूर्वाग्रह एवं भावस्थितियाँ रहती है जो इतिहास में नहीं पायी जाती। ये वस्तुएँ अप्रत्याशित रूप से हमें आकर्षित करती हैं। इसमें प्राय: जीवन के ऐसे चित्र भी रहते हैं जो बार-बार स्मृति-पटल पर आकर कौंध जाते हैं और हम रस-मग्न हो जाते हैं। किन्तु इन सबके अतिरिक्त इसमें एक और भी प्रधान वस्तु रहती है और वह है इतिहास की भाव-वृत्ति (sentiment of history), अतीत के प्रति मोह (feeling for past) इतिहास की यह भाव-वृत्ति ही किसी भी उपन्यास को ऐतिहासिक उपन्यास के सिंहासन पर प्रतिष्ठित करती है। इस दृष्टि से एक अर्थ में ऐतिहासिक उपन्यास, इतिहास का एक रूप है, अतीत को निरूपित करने का एक ढङ्ग है।[2]

ऐतिहासिक रस

ऐतिहासिक उपन्यास का जागरूक पाठक उपन्यास को पढ़ते समय मात्र इतिहास की घटनाओं एवं तथ्यों को ही नहीं जानना चाहता और न वह केवल ऐतिहासिक नामों तक ही अपने को सीमित रखना चाहता है; वह तो चित्रित युग के आन्तरिक मन्तव्यों, उसके समग्र चेतना-प्रवाह, दूसरे शब्दों में 'इतिहास की भाव-वृत्ति' को जानना चाहता है और वही उसका अभीष्ट होता है। इस भाव-वृत्ति के द्वारा पाठक को जो आनन्द मिलता है, सम्भवत: उसे ही रवि बाबू ने 'ऐतिहासिक रस' तथा उन्हीं का अनुसरण करते हुए चतुरसेन शास्त्री ने 'इतिहास-रस' नाम दिया है। इस सन्दर्भ में यहाँ रवि बाबू तथा शास्त्री जी का मन्तव्य उल्लेखनीय है। रवि बाबू अपने 'ऐतिहासिक उपन्यास' शीर्षक एक लेख में लिखते है :—

"हमारे अलङ्कार-शास्त्र में नौ मूल रसों का उल्लेख किया गया है, किन्तु बहुत से अनिर्वचनीय मिश्र रस भी हैं जिनके उल्लेख का प्रयत्न नहीं किया गया। इन्हीं समस्त अनिर्दिष्ट रसों के अन्दर एक का नाम 'ऐतिहासिक रस' रखा जा सकता है और यह रस महाकाव्यों का प्राण है।"[3] इसी लेख में पुन: वे लिखते हैं : "उपन्यास के अन्दर इतिहास के मिल जाने से जो एक विशेष रस सञ्चारित हो जाता है, उपन्यासकार एक मात्र उसी 'ऐतिहासिक रस' के लालची होते हैं; उसके सत्य की उन्हें कोई विशेष परवाह नहीं होती। यदि कोई व्यक्ति उपन्यास में इतिहास के उस विशेष गन्ध और स्वाद से ही एकमात्र सन्तुष्ट न हो और उसमें से अखण्ड इतिहास को निकालने लगे तो वह शाक के बीच साबित जीरे धनिये हल्दी और सरसों ढूँढगा मसाले को साबित

रस कर जो व्यक्ति शाक को स्वादिष्ट बना सकते हैं, वे बनाएँ और जो उसे पीस कर एक सम कर देते हैं, उनके साथ भी हमारा कुछ झगड़ा नहीं। क्योंकि यहाँ स्वाद ही लक्ष्य है, मसाला तो उपलक्ष्य मात्र है।"[1] अपने 'इतिहास रस' की चर्चा करते हुए शास्त्री जी लिखते हैं: "यह प्रकट है कि ऐतिहासिक उपन्यास और कहानियों में जो ऐतिहासिक तथ्य होते हैं वे विशुद्ध ऐतिहासिक नहीं। उनमें बहुत कुछ कल्पना और विकृति मिली होती हैं। पाठकों को यह आशा नहीं करनी चाहिए कि उपन्यास, काव्य या कहानी को पढ़ कर वे ऐतिहासिक ज्ञान अर्जन करेंगे। ऐसी पुस्तकों में तो इतिहास के स्थान पर केवल 'इतिहास-रस' ही की प्राप्ति होगी।" आगे वे लिखते है: "यह कहा जा सकता है कि उसे (ऐतिहासिक उपन्यासकार को) ऐसे ऐतिहासिक उपन्यास और कथानक को लिखने से पहले ऐतिहासिक विशेष सत्यों को जानना चाहिये। परन्तु यदि वह ऐसा करे तो वह कदापि कोई रचना जीवन में नहीं कर सकता, क्योंकि ऐतिहासिक विशेष सत्यों का ज्ञान कभी भी पूरा नहीं हो सकता; उनमें गवेषणा करने वाले विद्वानों के द्वारा नयी-नयी जानकारी होते रहने से निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। फिर क्यों न साहित्यकार कहानी और उपन्यास को चिर सत्य के आधार पर जिसमें गवेषणा की कोई गुञ्जाइश ही नहीं—रचना करें; और ऐसी रचनाएँ जो साहित्य-संश्लिष्ट हैं और जिनका आरम्भ एक निर्दिष्ट रस है—अपने स्थान पर पूजित हों। साहित्य के आचार्यों ने नौ मूल रसों को साहित्य-सृजन में महत्व दिया है। परन्तु उनके सिवा कुछ अन्य 'अनिर्दिष्ट रस' हैं जिनमें एक 'इतिहास-रस' है।"[3]

इतिहास के उपजीव्य स्रोत

इतिहास के निर्माण में एक नहीं वरन् अनेक वस्तुओं का योग रहता है। केवल इतिहास के ग्रन्थ तथा जीवन-चरित ही उसके निर्माण मे योग नही देते, वरन् पौराणिक कथाएँ, स्थानीय लोक-परम्पराएँ, प्राचीन कथाग्रन्थों की कहानियाँ, भाटों द्वारा गायी जाने वाली लोक-गाथाएँ, प्राचीन शिलालेख, मुद्राएँ आदि ऐसे अनेक उपजीव्य स्रोत हैं जो इतिहास के चित्रकक्ष का निर्माण करते है और हमारे मस्तिष्क में एक ऐसे संसार का चित्र खींच देते हैं जो वर्तमान का न होकर अतीत का होता है। हम लोग अपने प्रबुद्ध ज्ञान से उस चित्र का संशोधन कर सकते हैं, किन्तु उससे पलायन नही कर सकते। यहाँ एक बात लक्ष्य करने की है कि इतिहास का यह चित्रकक्ष, जो हमारे मस्तिष्क में अवस्थित है, प्रत्यक्ष रूप से ऐतिहासिक उपन्यास का स्रोत नहीं होता।

इतिहासकार इतिहास के चित्रकक्ष के निर्माण के लिए प्राप्त उपजीव्य स्रोतों को एकत्र करता है, सतर्कता से उनका निरीक्षण-परीक्षण करता है, तिथि-संवतों की छानबीन करता है और महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक व्यक्तियों, घटनाओं आदि के विषय में प्रामाणिक विचार व्यक्त करता है। वैज्ञानिक की भाँति वह घटना-प्रसङ्गों में कार्य-कारण-सम्बन्ध स्थापित करता हुआ उसे अधिकाधिक बुद्धि-ग्राह्य एवं विश्वसनीय बनाने का प्रयास करता है। एक निःसङ्ग बौद्धिक जिज्ञासा से ही इतिहासकार प्रेरित होता है।

"विशुद्ध वैज्ञानिक अर्थ में इतिहास अविसंवादी प्रामाणिक तथ्यावली का धारावाहिक संग्रह है। प्रामाणिक ग्रन्थों, शिलालेखों, ताम्रपट्टों, मुद्राओं और प्राचीन पत्रादि के आधार पर प्रामाणिक तथ्य ग्रहण किये जाते हैं परन्तु ये सब मिल कर भी इतिहास नहीं बनते उसे धारावाहिक बनाने

के लिए इतिहासकार को अनुमान का सहारा लेना ही पड़ता है। 'तथ्य' सदा 'सत्य' नहं होता। मनुष्य के मस्तिष्क और हृदय से निकलने पर ही वह सत्य का रूप धारण कर सकता है। इतिहास-लेखक कम से कम अनुमान का सहारा लेना चाहता है पर ऐतिहासिक उपन्यास का लेखक तथ्य को साधन बना कर उसे रसमय बनाने के लिए कल्पना का यथेष्ट आश्रय लेता है।"

ऐतिहासिक अनुसन्धान भी एक विशेष प्रकार के आनन्द का विषय होता है, किन्तु यह आनन्द नवीन ज्ञान की उपलब्धि का आनन्द है जो काव्यानन्द से भिन्न कोटि का होता है। कुछ इतिहासकार विशेष रूप से सामाजिक एवं सांस्कृतिक इतिहास-लेखक—वर्णन में किञ्चित् काव्य-रीतियों का अनुसरण कर उसे रसमय बनाने का प्रयत्न करते हैं किन्तु अपनी दृष्टि को ऐतिहासिक सत्यों पर कठोरता से केन्द्रित रखने तथा इतिवृत्तात्मकता के कारण वे पाठक को पूर्ण रस-दशा तक पहुँचाने मे सफल नहीं हो पाते। इतिहासकार हमें यह ज्ञान कराता है कि कौन सम्राट् या महापुरुष किस काल में उत्पन्न हुआ, उसकी शिक्षा-दीक्षा किस प्रकार हुई, वह कब सिंहासनारूढ हुआ, उसकी शासन-प्रणाली कैसी थी, उसके शासन में कौन-कौन-सी प्रमुख घटनाएँ घटित हुई आदि-आदि। किन्तु इस ज्ञान-प्रदर्शन के बावजूद भी वह उस सम्राट् या महापुरुष को हमारे सम्मुख इस प्रकार सजीव रूप मे नहीं प्रस्तुत करता कि हम उसके हृदय का स्पन्दन, उसकी वाणी सुन सकें तथा उसे भावात्मक रूप से प्रत्यक्ष देख सकें। कारण कि वह जीवन के तथ्य मात्र देता है और घटनाओं का एक लेखा-जोखा प्रस्तुत करके ही रह जाता है; जीवन के अन्तर में क्या है, इस ओर वह दृष्टि नहीं डालता।

ऐतिहासिक तथ्य और सत्य

किन्तु ऐतिहासिक उपन्यासकार ऐतिहासिक उपन्यास इसलिए नहीं लिखता कि वह सहज ढङ्ग से इतिहास की शिक्षा देना चाहता है अथवा परोक्ष रूप से कोई नैतिक सदुपदेश देना चाहता है, वरन् वह इसलिए ऐतिहासिक उपन्यास लिखता है कि उसका मस्तिष्क अतीत की भावना मे सम्पृक्त रहता है, ठीक वैसे ही जैसे एक सङ्गीतकार का मस्तिष्क धुनों (tunes) से भरा रहता है। वह अतीत के भीतर से अपने लिए एक संसार का सृजन करता है और अधिकांशत: उसी मे रहता है तथा अपने पाठकों को उस संसार के प्रदर्शन के लिए कथा का आश्रय लेता है। ऐतिहासिक उपन्यासकार का उद्देश्य घटनाओं का लेखा-जोखा प्रस्तुत करना नहीं होता, वरन् सार्थकता की दृष्टि से वर्तमान सन्दर्भ में अतीत को साकार करना होता है। वह इतिहास की सम्पूर्ण सामग्री को आयत्त कर अपनी महत्कल्पना के पङ्ख से अतीत युग में केवल पहुँच ही नहीं जाता, वरन् अतीत को रूप, सौन्दर्य एवं प्राण प्रदान कर वर्तमान में ला खड़ा करता है। इतिहास की स्थूल रेखाओं मे कल्पना की रङ्ग-तूलिका से ऐतिहासिक उपन्यासकार रूप उरेहता है और दूरी को नगण्य कर ऐतिहासिक पात्र हमारे बीच आ खड़े होते हैं—बोलते हुए, आचरण करते हुए। अतीत को साकार करने के प्रयत्न में ऐतिहासिक उपन्यासकार को ऐतिहासिक सत्य के प्रति जागरूक होते हुए भी तथ्यों एवं घटनाओं से इधर-उधर हो जाना पड़ता है और काल्पनिक घटना-प्रसङ्गों की उद्भावना भी करनी पड़ती है कारण कि उसके लिए वास्तविक घटनाएँ अथवा तथ्य साध्य

नहीं साधन होते हैं जिनके भीतर निहित मूल 'इतिहास की भाव-वृत्ति' को चित्रित करना ही उसका लक्ष्य होता है और उसके इस प्रयास में कल्पना का विशेष योग रहता है।

ऐतिहासिक उपन्यास, समसामयिक जीवन को नहीं वरन् अतीत के जीवन और समाज को चित्रित करता है। जिस युग और स्थान में उपन्यास की कथावस्तु गठित होती है उसके जीवन की प्रत्येक अवस्था—इतिहास-परम्परा, आचार-विचार, रीति-रिवाज, वेश-भूषा, सामाजिक तथा सांस्कृतिक वातावरण आदि—को सजीव रूप में प्रस्तुत करना ही ऐतिहासिक उपन्यासकार का लक्ष्य होता है। अतः ऐतिहासिक उपन्यास केवल इतिहास से ही सम्बन्धित नहीं होता वरन् पौराणिक कथाओं, स्थानीय परम्पराओं तथा लोक-प्रसिद्ध लोक-गाथाओं आदि से भी सम्बद्ध होता है। वह अतीत की कथा को कहने तथा उसके चित्र को रमणीय बनाने के लिए पौराणिक कथाओं, परम्पराओं लोक-गाथाओं की ही तरह इतिहास ग्रन्थों की प्रमाण-सिद्ध सामग्रियों की सीमा का अतिक्रमण भी करता जाता है और प्रभावशीलता उत्पन्न करने के प्रयत्न में कभी-कभी इतिहास के पुनप्राप्त तथ्यों की विश्वसनीयता तथा विवरणों की यथातथ्यता को कम महत्त्व देता है। ये पौराणिक कथाएँ तथा लोक-प्रचलित कहानियाँ, ऐतिहासिक उपन्यास से उसी प्रकार सम्बन्धित होती हैं जिस प्रकार किसी लोकगीत का एक टुकड़ा किसी सुसंस्कारी प्रतिभा से उद्भूत सङ्गीत से सम्बद्ध होता है।[१०] लोक-कथाएँ, किम्वदन्तियाँ अथवा लोक-प्रवाद प्रत्यक्ष रूप से लोक-जन्य होते हैं और उनमें कहीं न कहीं तथ्य का अंश छिपा होता है। जब हम उन पुराण तथा लोक-कथाओं को सुनते हैं तो ऐसा लगता है जैसे धरती स्वयं अपने आप को व्यञ्जित कर रही हो, अपने अतीत की स्मृतियों को बिखेर रही हो। हाँ, एक बात अवश्य है कि ऐतिहासिक उपन्यास सोद्देश्य, कलात्मक एवं व्यवस्थित रचना होने के कारण एक सीमा तक ही इनसे सम्बन्धित होता है और वह सीमा है ऐतिहासिक यथार्थ।

इतिहास अपने चित्रों को बनाने तथा अतीत को पुनर्निर्मित करने के लिए केवल उन्ही सामग्रियों एवं साधनों का आधार लेता है जिनको वह विनाश से बचा पाता है। वह उन खण्ड-खण्ड सामग्रियों को एकत्र करता है और उनको मिला कर एक चित्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है। विश्व की धारणा-शक्ति (memory of the world) उस दीप्तिमान्, भास्मान् स्फटिकमणि जैसी नहीं है जो निरन्तर प्रकाश देती है, वरन् सूक्ष्म ज्योति-स्फुरणों के सदृश है जो अचानक अन्धकार को विदीर्ण करती हुई आगे बढ जाती है। और इस प्रकार इतिहास उन कहानियों से भरा हुआ है जो अर्ध-कथित हैं; उन तीनों से भरा हुआ है जो बीच में ही टूट गये है।[१] इतिहास, प्रधानतः हमारे सम्मुख मनुष्यों के पूर्ण जीवन को नहीं, बल्कि जीवन-खण्डों को प्रस्तुत करता है; वह जीवन की युद्ध-भूमि में बची उन सामग्रियों को प्रस्तुत करता है जो क्षत-विक्षत हो गयी हैं। वस्तुतः प्रत्येक इतिहास रुद्ध द्वारों से भरा हुआ होता है और उसके द्वारा हमें घटनाओं की एक अस्पष्ट झलक मात्र ही मिल पाती है।

इतिहास कदाचित् ही उन परिस्थितियों को पुनर्हस्तगत करता है जो बीत चुकी हैं। वह कदाचित् ही हमें एक दिये हुए काल और स्थान में मानव-कार्यों की किसी विशिष्ट समस्या या किसी निश्चित स्थिति का बोध कराता है। किन्तु इन्हीं सामग्रियों से जब कोई उपन्यासकार उपन्यास का निर्माण करता है तो वह सम्पूर्ण इतिहास-बोध को अपने अन्तर में बैठा लेता है और

तब सृजन की ओर अग्रसर होता है। वह इतिहास के बिखराव को नहीं वरन् उसके क्षण को इस रूप में प्रस्तुत करता है जिसे इतिहास कदाचित् ही कर पाता है। इस प्रयत्न में ऐतिहासिक उपन्यासकार एक सीमा तक स्वच्छन्द भी होता है और कल्पना के पङ्खों पर उड़ कर असूर्यस्पर्शी भावभूमि में भी प्रविष्ट करता है, जबकि इतिहासकार के लिए ऐसी कोई स्वतन्त्रता नहीं होती। वास्तव में अतीत के पूर्ण निदर्शन के लिए यह आवश्यक है कि इतिहास को उसकी घटनाओं में भाव-प्रवाह का समावेश करते हुए कथा का रूप दिया जाय।

कल्पना-निर्मित जीवन्त विधान

पाठ्य-पुस्तकों में लिखा हुआ इतिहास, जिसकी रूप-रेखा अतीत के विभिन्न पुनर्प्राप्तव्य तथ्यों द्वारा बनायी जाती है, वस्तुतः बीती हुई घटनाओं की एक तालिका के अतिरिक्त और कुछ नहीं। उस तालिका के द्वारा यदि हम अपने मस्तिष्क में अतीत को उद्घाटित करें तो हमारे सामने बीसों चित्र आ खड़े होते हैं। इतिहास की पाठ्य-पुस्तकों में वर्णित इतिहास और हमारे मस्तिष्क में निर्मित अतीत के चित्र में परस्पर उसी प्रकार का सम्बन्ध होता है जिस प्रकार का सम्बन्ध किसी देश के मानचित्र और उस देश के भूखण्ड के मनोगत चित्र में होता है। किसी युद्ध सम्बन्धी चित्र का पर्यवेक्षण करते समय हम बता सकते हैं कि अमुक मार्ग कहाँ जाता है, किस घाटी अथवा पहाड़ी के भीतर जा कर समाप्त हो जाता है, कहाँ वह किसी जङ्गल अथवा किसी नदी को स्पर्श करता है, आदि-आदि; किन्तु यदि हमें उस भूखण्ड में अपनी यात्रा का दृश्य चित्र प्रस्तुत करना हो तो वहाँ हमें कटीली झाड़ियों, मार्गों के चित्ताकर्षक मोड़ों तथा सरिताओं के ऊँचे-ऊँचे चट्टानी कगारों को भी प्रदर्शित करना पड़ेगा। ठीक इसी प्रकार, जब हम इतिहास का अध्ययन करते हैं और यदि केवल महान् व्यक्तियों को ही रङ्गमञ्च पर गर्वोन्नत मस्तक लिये आते तथा जन-जीवन में भाग लेते देखने की ही इच्छा नहीं करते, वरन् ग्रामीण प्रदेश के समुज्ज्वल जीवन को अनेक मानवीय संस्पर्शों से युक्त भी देखना चाहते हैं, अतीत के विशद जीवन को भी पकड़ना चाहते हैं, तो इसके लिए आवश्यक है कि इतिहास को अप्राप्तव्य मानवीय कार्य-व्यापारों एवं कल्पना से परिपुष्ट एवं सजीव बनाया जाय।[१२] महान् पुरुषों का सार्वजनिक जीवन हमारे नेत्रों के सम्मुख रहता है। उनके व्यक्तिगत जीवन की भी कुछ बातें हम जानते हैं। किन्तु, उनका वह जीवन, जो अपने कोलाहल से राजपथों को भर देता है, जो एक कलङ्कित बस्ती को आश्चर्यजनक रूप से समुज्ज्वल बना देता है, जो हर्षविषादमय है, जो परिक्लान्त एवं रोमाञ्चकारी है, इतिहास में अस्पष्ट एवं अन्धकारमय होता है। इसी कारण इतिहास मानव-हृदय तथा मानव-भावनाओं को उद्वेलित नहीं कर पाता, जैसा कि एक ऐतिहासिक उपन्यास करता है। तथ्यों के प्रति इतिहास की अगाध श्रद्धा सम्भवतः उसे जीवन के प्रति कम सत्य ही नहीं बनाती, वरन् मानव-हृदय से भी उसे दूर कर देती है। इतिहास, जो हमारे इतिहास-ग्रन्थों में वर्णित होता है, वस्तुतः एक कङ्काल सदृश होता है जिसको मांसल एवं प्राणमय बनाने के लिए कल्पना अपेक्षित है। ऐतिहासिक उपन्यासकार का कार्य अपनी कल्पना द्वारा इतिहास के कङ्काल में प्राण डालना एवं उसे मांसल, हृष्ट-पुष्ट बनाना होता है।

जब इतिहास हमसे यह कहता है कि अशोक ने अमुक कार्य किया तो उसके इस वाक्य को

हृदयङ्गम करने तथा अशोक को कार्य मे सलग्न देखने के लिए यह आवश्यक है कि इतिहास-ग्रन्थ मे वर्णित उसके कार्य को हम अपनी कल्पना में विस्तृत बनायें। किसी अतीत की घटना का वर्णन अच्छी तरह किया जा सकता है और वह वर्णन हमारे मन और मस्तिष्क पर प्रभाव भी डाल सकता है, किन्तु यदि हम उसी घटना को घटित होते हुए देख सकें और एक दृश्य सदृश ग्रहण कर सके तो वह अतीत की घटना असीम शक्ति से हमारे हृदय और मस्तिष्क को उत्तेजित कर हमारी चेतना को झकझोर देगी और सच बात तो यह है कि जब हम इतिहास की कोई पुस्तक पढ़ते हैं तो यही बात देखना चाहते हैं। इतिहास पढते समय अतीत का साक्षात्कार करना ही महत्त्वपूर्ण बात है न कि किसी अन्य के वर्णन द्वारा केवल उसका श्रवण करना। अत: इसके लिए किसी घटना का वर्णन पढ़ना ही पर्याप्त नही है, वरन् वहाँ रहना, उनका निरीक्षण करना भी आवश्यक है, ताकि हम घटना के क्षण-विशेष को पुन: प्राप्त कर सकें। इतिहास उस क्षण-विशेष को पुन: प्राप्त करने का कार्य यथार्थत: नहीं कर पाता; अत: उसे हमें अपनी कल्पना से करना पड़ता है और इस प्रकार इतिहास हमारी कल्पना में पूर्ण होता है। उसकी यह पूर्णता-अपूर्णता वस्तुगत होने के अतिरिक्त कालगत भी होती है। हमारे और अतीत के बीच जो काल का व्यवधान है, वह भी कल्पना द्वारा पूर्ण होता है और इस प्रकार अतीत हमारे इतने निकट आ जाता है कि हम उसे इस प्रकार देखने लगते हैं जैसे हम स्वयं को या अपने चारों ओर के परिवेश को देखते हैं।

इतिहास का पुनरुज्जीवन

अतीत कहने मात्र से जिस अर्थ का बोध होता है वह कल्पना द्वारा संश्लिष्ट इतिहास है। जब किसी विशिष्ट परिस्थिति को पुनरुज्जीवित करने अथवा परिस्थितियों के एक निश्चित सयोजन को तीव्रता से पकड़ने अथवा किसी क्षण-विशेष को अधिकृत करने का प्रश्न उठता है, उस समय इतिहास असफल सिद्ध होता है और जब तक ये कार्य सुसम्पन्न नहीं किये जा सकते तब तक न तो अतीत साकार हो सकता है और न अतीत के जीवन को ही पुनरुज्जीवित किया जा सकता हे। यदि इतिहास को मात्र शव-परीक्षण न होकर अतीत के जीवन का एक सजीव चित्र होना है तो यह आवश्यक है कि इतिहास के प्राप्त तथ्य-तालिका को जीवन्त चित्र का रूप दिया जाय। यद्यपि इतिहासकार की कल्पना कुछ अंशों में चित्र-निर्माण का प्रयास करती है, लेकिन अपनी सीमित मर्यादाओं के कारण एक अधूरा चित्र बना कर ही रह जाती है। ऐतिहासिक उपन्यास अपने उद्देश्यों एवं मर्यादाओं में अपेक्षाकृत अधिक व्यापक होने के कारण तथा परिस्थितियों एव क्षण-विशेष को तीव्रता से पकड़ने के कारण अतीत को एक सजीव चित्र का रूप देने में सफल होता है। इस प्रकार जहाँ इतिहास विवरण देता है वहाँ ऐतिहासिक उपन्यास चित्र प्रस्तुत करता है। किन्तु ऐतिहासिक उपन्यास सुदूर अतीत का केवल चित्र ही नहीं प्रस्तुत करता, बल्कि वह हमें उसमें निमग्न भी कर देता है। वह इतिहास की तरह सुदूर अतीत को प्रदर्शित करने वाला एक दूरबीक्षण-यन्त्र मात्र नहीं होता, वरन् अतीत एवं वर्तमान को अलग करने वाली खाई को जोड़ने वाला एक सेतु होता है। वह काल को इतिहास की तरह खण्ड-खण्ड करके नहीं प्रस्तुत करता वरन् एक प्रवहमान धारा के रूप में प्रस्तुत करता है।

इतिहास घटनाओ से परिपूर्ण होता है एक कुशल इतिहासकार उनके समुचित चयन

निरीक्षण, परित्याग तथा क्रम-निर्धारण द्वारा उनको यथार्थता प्रदान करता है, किन्तु इतिहास में ऐसी भी अनेक अप्राप्य घटनाएँ या बातें होती है जिनको इतिहास कोई विशेष महत्त्व नहीं देता, किन्तु कथा के लिए उन बातों का अधिक महत्त्व है। इतिहासकार की दृष्टि प्रमुख घटनाओं तथा पात्रों पर ही विशेष केन्द्रित रहती है और एक सीमा तक तटस्थ रह कर ही वह उनका विवरण प्रस्तुत करता है। किन्तु ऐतिहासिक उपन्यासकार जिन घटनाओं एवं पात्रों द्वारा उपन्यास की रचना करता है, उनका तटस्थ विवरण मात्र देकर ही सन्तोष नही कर लेता, वरन् प्रत्येक पात्र से अपने घनिष्ठ एवं अन्तरङ्ग व्यक्तिगत सम्बन्धों तथा प्रत्येक घटना के प्रति अपने प्रत्यक्ष अनुभव-संस्पर्शों द्वारा उसे प्राणवान् भी बनाता है। ऐतिहासिक उपन्यास में जो महत्त्वपूर्ण बात है, वह प्रसिद्ध ऐतिहासिक घटनाओं का पुनर्कथन नहीं है बल्कि उन व्यक्तियों का भावपूर्ण जागरण है जिन्होंने उन घटनाओं में महत्त्वपूर्ण भाग लिया था। सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि उसे पढ कर हम उन सामाजिक एवं मानवीय प्रयोजनों का पुनरानुभव करने लगें जिसने मनुष्यों को सोचने, समझने, अनुभव करने तथा ठीक वैसे ही कार्य करने के लिए प्रेरित किया था जैसा उन लोगों ने वस्तुतः किया।[१३]

ऐतिहासिक तथ्यो को प्रयुक्त करने की इतिहासकार की अपनी पद्धति होती है जो उपन्यासकार से मूलतः भिन्न होती है। इस पद्धति में अनिवार्य रूप से अतीत का वर्णन उत्तरकालीन युग के लिए किया जाता है। इसमें अपना रहस्योद्घाटन करते हुए अपनी कथा को कहने वाला स्वयं अतीत नही होता। इतिहासकार वाणी की एक विशिष्ट भङ्गिमा का प्रयोग करता है। इसके अतिरिक्त वह केवल उस संसार का ही वर्णन नहीं करता जैसा कि वह कुछ वर्षों पहले था, वरन् वह परवर्ती काल के सम्पूर्ण विकासों के साथ उस काल के संसार का सम्बन्ध भी स्थापित करता है और चलचित्रों की तरह खण्ड-चित्रो के विशृङ्खलित समूह को प्रकट करके रह जाता है। किन्तु ऐतिहासिक उपन्यास में अतीत अपने पक्ष में स्वयं बोलता है। हम अतीत को उसमें साकार होते हुए देखते हैं और स्वयं भी लीन हो जाते हैं। सामान्यतया ऐतिहासिक उपन्यास में हम किसी व्यक्ति को अतीत का वर्णन करते हुए नहीं सुनते। उसमें अतीत पात्रों की वाणी एवं घटनाओं के माध्यम से राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक आदि अपनी सम्पूर्ण विशेषताओं सहित स्वयं मूर्तिमान् हो उठता है। इस प्रकार इतिहास, कथा-शैली में लिखा जा कर अधिक शक्ति-सम्पन्न, प्रभावशाली और सजीव हो उठता है।

ऐतिहासिक उपन्यासकार, इतिहास की प्रत्येक घटनाओं में घटना नहीं, निहित कहानी देखता है, कथा-निर्माण करने वाली परिस्थितियों को देखता है और फिर उनको इस रूप में ढालता है कि वे कथा बन कर निःस्रवित होने लगती है। उसके लिए वाह्य घटनाओं का उतना महत्त्व नहीं होता जितना व्यक्तिगत जीवन के सङ्घर्षों एवं भावात्मक परिस्थियों का। इसलिए उसकी दृष्टि प्रधान रूप से व्यक्तिगत जीवन की उलझनों की ओर रहती है। भावी युगों पर कथा के प्रभाव की आकाक्षा करने के बदले वह तत्कालीन जन-जीवन के मन्तव्यों के आन्तरिक कार्य-परिणामों को उद्घाटित करता है। ऐतिहासिक उपन्यासकार का कार्य उस द्विपार्श्व कांच के सदृश होता है जो एकरङ्गी रवि रश्मियों को सतरङ्गी वर्णों में बदल देता है वह इतिहास के सामान्य सिद्धान्तों एव अपने पाठक के मध्य खड़ा होकर सामान्य को विशिष्ट मे परिवर्तित कर देता

है और एक चित्र सदृश ङ्कित करता है इस कार्य मे की मानसिक प्रतिक्रिया औ कल्पना का विशेष योग रहता है। उपन्यासकार की यह मन:कल्पना उन रज-कणो के सदृश होती है जो रवि-रश्मि का सृजन भी करते हैं और रवि-प्रकाश को अपनी उपस्थिति का ज्ञान कराने मे भी सहायता देते हैं।[१४] इस प्रकार ऐतिहासिक उपन्यासकार इतिहास को जिस रूप में प्रस्तुत करता है, इतिहासकार नही कर सकता। वह एक युग के जीवन को पुन: हस्तगत कर के उसके द्वारा अतीत के चित्र का पुर्ननिर्माण करता है।

ऐतिहासिक उपन्यास और अन्त:प्रज्ञा

हार्वे एलेन ने सङ्केत किया है कि इतिहास और ऐतिहासिक उपन्यास सत्य के दो रूपो—तथ्यगत सत्य तथा दार्शनिक सत्य—को प्रकट करते हैं। किन्तु चूँकि दोनों की कार्य-प्रणाली भिन्न होती है, अत: उनसे सम्बद्ध कला-रूपों में भी भिन्नता होती है। इतिहासकार जहाँ शुद्ध बुद्धि द्वारा प्रेरित होता है, वहाँ ऐतिहासिक उपन्यासकार अन्त:प्रज्ञा (intiution) द्वारा। यद्यपि न तो इतिहासकार ही अतीत को पुन: प्रस्तुत कर सकता है और न उपन्यासकार ही, फिर भी उसे नाटकीय ढङ्ग से प्रस्तुत कर उपन्यासकार पाठक को अतीत युग का बोध इतिहासकार की अपेक्षा अधिक स्पष्टता, अधिक औचित्य तथा अधिक प्रभविष्णुता से करा सकता है।[१५] कारण कि इतिहासकार ऐतिहासिक सत्य को तर्क के द्वारा पकड़ने का प्रयत्न करता है और चूँकि इतिहास की घटनाएँ मरने के साथ ही जीवाश्म (fossil) बनने लगती हैं, पत्थर बनने लगती है, दन्तकथा और पुराण बनने लगती हैं और इतिहास की 'झिलमिली' ओढ़ कर अस्पष्ट एवं धुँधली हो जाती हैं; अत: इतिहासकार की बुद्धि की उँगली उन्हें छूने में असमर्थ हो जाती है और सत्य अनुद्घाटित ही रह जाता है। "इतिहास की यह झिलमिली बुद्धि को कुण्ठित और कल्पना को तीव्र बनाती है, उत्सुकता में प्रेरणा भरती है और स्वप्नों की गाँठ खोलती है। घटनाओं के स्थूल रूप को कोई भी देख सकता है लेकिन उनका अर्थ वही पकड़ता है जिसकी कल्पना सजीव हो।"[१६] ऐतिहासिक उपन्यासकार अपनी सजीव कल्पना द्वारा घटनाओं के अर्थ को उद्घाटित कर अखण्डित सत्य को व्यक्त करता है और अतीत युग का बोध कराने में सफल हो जाता है।

ऐतिहासिक उपन्यासकार उपन्यास-रचना की सामग्री अथवा उसके लिए सङ्केत इतिहास से लेता है। किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि वह सामग्री अथवा सङ्केत एक बनी-बनायी कथा हो अथवा एक घटना-क्रम द्वारा नियोजित हो। ऐसे अनेक ऐतिहासिक उपन्यास हैं जिनकी कथाएँ सीधे इतिहास की पुस्तक से ली गयी हैं और कदाचित् कल्पना द्वारा काट-छाँट कर परिवर्तित-परिवर्धित कर दी गयी हैं। ऐतिहासिक उपन्यास की संरचना के लिए इतिहास, कथानक एव अप्रत्याशित घटनाएँ प्रस्तुत करता है। किन्तु जहाँ इतिहास मौन रहता है और घटनागत औचित्य का कारण उपस्थित करने में असमर्थ होता है, वहाँ उपन्यासकार की कल्पना सम्मुख आती है तथा घटनाओं और चरित्रों को आदर्श रूप में उपस्थित करती हैं।[१७] अनेक उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में तथ्यगत वास्तविक घटनाओं तथा पौराणिक-काल्पनिक कथाओं को भी आत्मसात् किया है और इस प्रकार इतिहास और कथा को एक-दूसरे से अन्तर्ग्रथित कर उनमें सामञ्जस्य स्थापित किया है की एक एसा माग प्रस्तुत करती है जिसमे इतिहास को

उपन्यास में परिवर्तित किया जा सकता है। किन्तु, इसके लिए मात्र यही मार्ग नहीं है और प्रमुख बात यह है कि इतिहास एक कथा-वृत्तान्त या घटनाओं का एक क्रम अथवा एक स्पष्ट घटना-चित्रण को प्रस्तुत कर कथा-पुस्तक की शैली में उसे फिर से कहने के लिए कल्पना को ही केवल प्रेरित नहीं करता है, वह कथा को भी उत्तेजित करता है; ऐसी परिस्थितियों, उनके पारस्परिक सम्बन्धों एवं समस्याओं को भी संयोजित करता है जो कथा-निर्माण के लिए समुचित आधार प्रस्तुत करते हैं।

इतिहास की ज्ञात सामग्री की अपेक्षा ऐतिहासिक उपन्यास किसी अतीतकालीन अनुभव का आभास अधिक विशिष्टता से उत्पन्न करता है। दिये हुए अतीत काल के तथ्यों को इतिहासकार एक विशिष्ट प्रकार से आकार देता है, यत्नपूर्वक उसमें से कुछ निकालता है और उसमें निहित अभिप्रायों एवं गूढार्थों की खोज करता है। ऐतिहासिक उपन्यासकार उन तथ्यों का उपयोग एक भिन्न अभिप्राय से करता है, उन्हे भिन्न प्रकार से विन्यस्त करता है और एक विभिन्न तर्क-कौशल द्वारा अपनी चिन्तन-धारा का रूप देता है। एक दी हुई घटना में इतिहासकार उसमें निहित मूलभूत मन्तव्यों का मूल्याङ्कन करने तथा उसके प्रभाव को खोजने का प्रयत्न करता है जबकि उपन्यासकार केवल चञ्चल, अस्थायी क्षण को पुन. पकड़ने, घटनाओं को घटित हुआ देखने एवं उसे एक चित्र अथवा भाव-दशा में परिवर्तित करने का प्रयत्न करता है। किसी देश के सामाजिक तथ्यों से इतिहासकार कुछ निष्कर्ष निकाल कर एक सामान्य सिद्धान्त, एक नियम बनाने की चेष्टा करता है जबकि उपन्यासकार उनको एक विशिष्ट प्रकार से संश्लेषित कर एक जीवन-प्रवाह के पुनर्निर्माण का तथा मानव-प्रकृति के उद्घाटन हेतु उनको विशिष्ट रूप देने का प्रयत्न करता है। इतिहासकार के लिए अतीत विकास की एक ऐसी अखण्ड प्रक्रिया है जो वर्तमान को तैयार करती है; उपन्यासकार के लिए वही अतीत कथा का एक अद्भुत स्रोत है। इतिहासकार वर्तमान की दृष्टि से अतीत की ओर देखता है; इसके विपरीत उपन्यासकार अपने मनोनुकूल अतीत काल में अपने आप को डाल देता है और उत्तरकालीन घटनाओं के प्रकाश में उसका मूल्याङ्कन करने की अपेक्षा उसके वास्तविक पुनर्निमाण की ओर ही अधिक उन्मुख रहता है और इस प्रकार अभिनेताओं अथवा पात्रों के साथ रह कर उनके सुख-दुख का सहभोक्ता बन जाता है।"

उपन्यासों की ऐतिहासिक सत्यनिष्ठा

जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, ऐतिहासिक उपन्यास अतीत के जीवन के प्रति निष्ठावान एवं ईमानदार होता है और जिस युग का वह वर्णन करता है उसे यथातथ्य रूप में उपस्थित करने का प्रयत्न करता है। किसी युग की 'स्पिरिट' का बोध कराने के लिए वह उसका वर्णन किसी दूरस्थ देश की तरह कर सकता है, किन्तु इसके लिए यह आवश्यक नही है कि वह अतीत की वास्तविक घटनाओं अथवा इतिहास-समर्थित घटनाओं का आधार ले। यदि अतीत की वास्तविक घटनाओ से वह ऐसा करता है तो यह उसके लिए अतिरिक्त गौरव की बात है किन्तु यदि वह वास्तविक घटनाओं और पात्रों का आधार न ले कर कल्पित घटनाओं एवं पात्रों के माध्यम से ऐसा करता है और फिर भी इतिहास की मूल चेतना की रक्षा कर पाता है तो वह कल्पित वस्तु विधान के कारण ही निम्न कोटि का ऐतिहासिक नहीं कहा जा सकता अत ऐतिहासिक

उपन्यास की प्रत्येक घटना काल्पनिक भी हो सकती है और वह किसी घटित हुई विशिष्ट घटना के बिना भी इतिहास की भाव-वृत्ति को उपस्थित कर सकता है। वह एक काल्पनिक जीवन के ढाँचे में अपने कार्य-व्यापारों द्वारा इतिहास को उद्घाटित कर अपनी कथा वैसे ही कह सकता है जैसे एक अध्यापक अपने बच्चों के सम्मुख गुरुत्वाकर्षण-शक्ति की व्याख्या एक काल्पनिक सेब पर उसके कार्य-फल द्वारा करता है। इस तरह ऐतिहासिक उपन्यास तथ्यों का आधार न लिये बिना भी इतिहास के प्रति सत्यनिष्ठ हो सकता है। अंग्रेजी में बुल्वर लिटन का 'लास्ट डेज ऑफ पम्पिआई' तथा हिन्दी में यशपाल की 'दिव्या' एवं राङ्गेय राघव का 'मुर्दों का टीला' इसी श्रेणी के उपन्यास हैं।

किसी भी युग की परिस्थितियाँ और अवस्थाएँ अव्यक्त कथाओं से भरी हुई तथा किसी व्यक्ति की कथा कहने की प्रवृत्ति को उकसाने के लिए पर्याप्त होती है। अतः, इतिहास उपन्यासकार को प्रायः कथा के लिए सङ्केत दे देता है। कुछ अधिक व्यापक एवं प्रत्यक्ष रूप में वह उपन्यासकार को एक कथासूत्र भी दे सकता है। प्रसिद्ध व्यक्तियों के जीवन-चरित के रूप में वह एक बिलकुल बना-बनाया उपयुक्त कथानक तो नहीं, किन्तु उपन्यास-रचना के लिए एक उपयुक्त विषय, विकसित करने तथा समाधान प्रस्तुत करने के लिए कोई समस्या दे सकता है, क्योंकि ये चीजें उनके जन-जीवन को ले कर ही नहीं वरन् उनके व्यक्तिगत जीवन-पक्ष को ले कर भी कथा को नियन्त्रित करती हैं। इसके अतिरिक्त इतिहास स्वयं भी उनके सम्बन्ध में अनेक सामान्य घटनाओं तथा प्रसिद्ध घटनाओं की सामान्य रूपरेखा प्रस्तुत करता है जो उपन्यास के लिए एक आधार प्रस्तुत करते है तथा एक ऐसी सीमा निर्धारित कर देते हैं जिसके भीतर उपन्यासकार रचना-कर्म करता है। किन्तु इन सबके परे मानवीय अनुभवों का, जीवन की विस्तृत परिधि का, जन-साधारण के सम्पूर्ण संसार का एक ऐसा विशाल समूह भी है जिनके विषय में इतिहास मात्र एक अपर्याप्त कथा कह कर रह जाता है। ये सब तो ऐसी बातें है जिनके बारे में उपन्यासकार को स्वय ही चिन्ता करनी पड़ती है। वह उपन्यासकार, जो राजाओं का तो कदाचित् ही वर्णन करता है, वरन् प्रायः सामान्य योद्धाओं तथा नागरिकों का चित्रण करता है, जो हृदय और घर को छोड़ कर कभी-कभी ही किसी और पार्लिअामेण्ट को चित्रित करता है, इतिहास को वृत्तान्तों का संग्रहागार मान कर वास्तविक घटनाओं के लिए ही उसकी ओर दृष्टिपात करता है और वहाँ केवल प्रासङ्गिक कथाएँ ही पाता है। अल्पकालीन अवसरों पर बातें अन्धकार में से ही आती हैं। बहुत-सी बातें केवल इङ्गित भर रहती है, और कथा के बहुत से सूत्र थोड़ी दूर ही जा कर टूट जाते हैं। इतिहास कथा के कुछ सुन्दर स्फुरणों में इधर-उधर फूट तो पड़ता है किन्तु उस में कथा का वह निरन्तर प्रवाह बहुत कम पाया जाता है जो किसी भी उपन्यास को सत्य, संश्लिष्ट एवं गतिशील बनाने के लिए आवश्यक होता है। उपन्यास में समाविष्ट होने के योग्य यह विवरणात्मक इतिहास खण्डित रूप में आता है और उपन्यासकार की कल्पना द्वारा ही परस्पर संग्रथित हो पाता है।

इतिहास का द्विविध प्रयोग

का के लिए ऐतिहासिक इतिहास का दो प्रकार से प्रयोग करता है में इतिहास की इन दो प्रयोग-पद्धतियो के इतिहास और ऐतिहासिक

उपन्यास में मुख्यतया दो प्रकार के सम्बन्ध हो सकते हैं—प्रथम, साधन और साध्य का, तथा द्वितीय आधार और आधेय का। प्रथम अवस्था में इतिहास केवल सामग्री प्रस्तुत करता है जिसका कथा में वैसे ही सन्नन्थन हो सकता है, जैसे एक भूगोल की पुस्तक एक यात्रा-वर्णन की पुस्तक में परिवर्तित की जाती है। दूसरी अवस्था में, इतिहास केवल सामग्री ही नहीं, उपन्यास के लिए एक सुदृढ़ कथानक भी प्रस्तुत करता है जिसको काट-छाँट कर उपन्यासकार अपने उद्देश्य के अनुकूल बनाता है और फिर अपनी कल्पना तथा सर्जना-शक्ति द्वारा उसे सुगठित बना कर उसमें प्राण सञ्चार करता है। इस प्रकार इस पद्धति में उपन्यासकार को दो मुख्य कार्य करने पड़ते हैं—(१) कथानक का अनुभावन, और (२) उसका कलात्मक पुनर्गठन। ऐतिहासिक उपन्यास के निर्माण की इस पद्धति में इतिहास का वही स्थान है जो शरीर-संरचना में कङ्काल का है। पहली पद्धति एक प्रकार से आवयविक (organic) होती है, और केवल इसी अर्थ में उपन्यासकार की सीमा निर्धारित करती है कि उसे अपने निर्माण-कौशल में अतीत के जीवन के प्रति निष्ठावान् रहना होगा। अतः इस पद्धति के मुख्य स्वर के साथ उपन्यासकार भी अपना स्वर मिला सकता है। इसके अनुसार इतिहास धातु प्रदान करता है और उपन्यासकार उससे अपने मनोनुकूल मूर्ति गढ़ता है। अपने इस प्रयत्न में वह चरित्रों की कल्पना कर सकता है, संवादों की कल्पना कर सकता है, घटना की उस सम्पूर्ण स्थिति और विस्तार की कल्पना कर सकता है जिसके माध्यम से इतिहास अपनी कथा कहने में स्वयं समर्थ हो उठे। लेकिन इन सबके बावजूद भी वह कथा में ऐतिहासिक व्यक्तियों को सुसङ्गत ढङ्ग से बैठाने के लिए उनके वास्तविक चरित्रों को विकृत करने अथवा अपने कथानक के सूत्रों को परस्पर गुम्फित करने के लिए काल-क्रमिक सरणि में परिवर्तन करने का अधिकारी नहीं। काल-क्रमिक सरणि का अनुसरण तो दूसरी पद्धति में भी होता है, किन्तु दूसरी पद्धति में इतना ही नहीं, उपन्यासकार को इतिहास के अन्य ज्ञात तथ्यों तथा लोक-प्रसिद्ध भावाधारित घटना-क्रम के प्रति भी सत्यनिष्ठ रहना पड़ता है। तुलनात्मक दृष्टि से यह पद्धति इस अर्थ में यान्त्रिक कही जा सकती है कि इसमें इतिहास से ली गयी कथा को उपन्यासकार अपनी कल्पना में गुम्फित एवं अन्तर्ग्रथित कर सामञ्जस्य स्थापित करता है और उपन्यास की माँग के अनुसार इतिहास की तीव्रता और आकस्मिकता को स्वाभाविक बनाने के लिए कभी-कभी उसमें मोड़ भी ला देता है। यद्यपि ऐसा तो कदाचित् ही कोई उपन्यास होगा जिसमें केवल एक ही पद्धति का अनुसरण किया गया हो, फिर भी दोनों के दो अलग आदर्श हैं जो ऐतिहासिक उपन्यास के दो विभिन्न रूपों का निर्माण करते हैं।

ऐतिहासिक उपन्यासकार जिन वास्तविक घटनाओं के आधार पर कथा विन्यास करता है वे दो प्रकार की होती हैं। एक 'ऐतिहासिक' (historical) तथा दूसरी 'इतिहास-विश्रुत' (historic)। ऐतिहासिक घटना वह है जो वस्तुतः अतीत काल में घट चुकी हो। इसमें घटित होने का भाव ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। किन्तु 'इतिहास-विश्रुत' घटना वह है जो कभी विस्मृत नहीं होती और विश्व में अपनी प्रसिद्धि की घोषणा करती है। 'इतिहास-विश्रुत' घटना भी ऐतिहासिक ही होती है, किन्तु इसमें इसकी प्रसिद्धि का भाव अधिक महत्त्वपूर्ण है। इतिहास-विश्रुत चरित्र विख्यात चरित्र होता है और प्रायः ——— होता है। इस सन्दर्भ में इतिहास का अर्थ शताब्दियों से विद्यमान विश्व नहीं होता वरन वह रङ्गमञ्च होता है जिस पर महान घटनाएँ

घटित और परिलक्षित होती हैं तथा जिस पर दूरव्यापी गम्भीर समस्याए सम्पन्न होती हैं। अतीत के सम्पूर्ण युगों में केवल कुछ ही ऐसे व्यक्ति हुए हैं जिन्होंने संसार में क्रान्ति उपस्थित की है तथा अपने युग पर विशिष्ट छाप छोड़ी है। ऐसे व्यक्तियों के पीछे एक ऐसा जन-समुदाय रहा है जिसने पथ-प्रदर्शन नहीं किया, वरन् अनुसरण किया, प्रधान रूप से कार्य में भाग नहीं लिया वरन् निरीक्षण किया। वस्तुतः प्रत्येक जन-समुदाय प्रख्यात व्यक्तियों के लिए ऐसा उपकरण होता है जिस पर वे अपनी भूमिका सम्पादित करते हैं। इतिहास-विश्रुत घटना में भाग लेने वाले व्यक्ति ही इतिहास को जीवित रखते हैं, जन-समुदाय तो दर्शक मात्र होता है। तब इतिहास तीव्र प्रकाश सदृश दर्शकों के सम्पूर्ण रङ्गमञ्च को अन्धकार में छोड़ देता है तथा अत्यधिक मुखर घटनाओं और प्रसिद्ध कृत्यों को आलोकित कर देता है।

ऐतिहासिक उपन्यासकार के लिए एक महान् 'इतिहास-विश्रुत' घटना उन प्रासङ्गिक कथाओं की अपेक्षा, जो सामान्य इतिहास से ली जाती हैं, अधिक विस्तृत कथा-सूत्र प्रस्तुत करती है। जब ऐतिहासिक उपन्यासकार अतीत के एकान्तिक पथों में विचरण करने तथा मार्ग से दूर अज्ञात कोने की रोमाञ्चक घटनाओं के विस्मयों को प्राप्त करने के बदले, प्रसिद्ध घटनाओं की पूर्ण धारा का साहस के साथ सामना करता है तथा महान् व्यक्तियों की नियति मे प्रविष्ट होता है तो ऐतिहासिक उपन्यास दूरस्थ प्रसिद्ध घटना के अर्थ में इतिहास विश्रुत कार्य-कलाप का प्रतिरूप हो जाता है और उसकी सीमाएँ तथा क्षेत्र दोनों अधिक विस्तृत हो जाते हैं। यहाँ केवल घटनाएँ ही इतिहास से नहीं ली जातीं बल्कि कार्य-व्यापारों एवं घटनाओं का एक सम्पूर्ण खण्ड, महान् युगों के शक्तिशाली नाटक का एक सम्पूर्ण अङ्क इतिहास से लिया जाता है। इतिहास केवल धुनों के टुकड़ों को ही नहीं प्रस्तुत करता, वरन् एक सम्पूर्ण वाद्यवृन्दीय अभिप्राय (orchestral theme) को प्रस्तुत करता है, जिसको उपन्यासकार पुनर्गठित और नये सिरे से निष्पादित करता है। इस से ऐसी समस्याएँ उपस्थित हो जाती हैं जो उपन्यास-रचना के योग्य तथा मानवीय अभिप्रायो से सयुक्त होती हैं। इस सन्दर्भ में मात्र यही कहा जा सकता है कि इस प्रकार का कथासूत्र सीमित होता है अथवा कम से कम उसका स्वरूप इस बात से स्थिर रहता है कि वह उन्हीं व्यक्तियों एव घटनाओंसे सम्बद्ध होना है जो जनता की आँखों में रहे है तथा विश्व-स्मृति पर अङ्कित हो गये हे।

अवधान-केन्द्र—मानव

इस विश्व में मनुष्य की जो नियति होती है तथा उसके जो जीवनानुभव होते हैं वे ही उपन्यास का कथा-विषय बनते हैं। उसके कथा-सूत्र की परिधि में वे सभी वस्तुएँ आ जाती हे जो मानव-हृदय एवं मस्तिष्क मे सम्पृक्त होती हैं। उसका सम्बन्ध जीवन की ऐसी छोटी से छोटी घटना से हो सकता है और बड़ी से बड़ी घटना से भी, जिसकी प्रतिध्वनि युगों से छायी रही है। वह उस महान् हृदय को स्पर्श कर सकता है जिसने सम्पूर्ण महाद्वीप के जीवन को उद्वेलित कर दिया हो। वह उन क्रान्तियों का वर्णन कर सकता है जिन्होंने मानव-जाति के भाग्य को पलट दिया हो। किन्तु, उसकी रुचि सबसे अधिक मनुष्य में ही होती है।

उपन्यास का क्षेत्र सामान्य व्यक्तियों के जीवन एवं कार्यों तक ही सीमित नहीं रहता। ऐसे भी मनुष्य हैं जो जीवन को दूसरो की अपेक्षा अधिक तीव्रता से अनुभव करते हैं और

अनुभव के उच्चतर शिखर पर पहुँच जाते हैं। उनके सम्मुख घटनाएं सामान्य जन-समूह की अपेक्षा अधिक सशक्त हो कर आती हैं। ऐसे मनुष्य अपने जीवन के विशिष्ट अनुभवों, इनुभूत कार्य-क्षमताओं तथा अपनी अदम्य शक्ति के कारण इतिहास में एक विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लेते हैं। किन्तु इनके अतिरिक्त कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो अपने हृदय अथवा मस्तिष्क की स्वाभाविक महानता के कारण नहीं, वरन् दैववशात् नयी असाधारण परिस्थितियों में प्रतिष्ठा पा जाते हैं और इस प्रकार उन्हें जीवन की नवीन समस्याओं एवं अनुभव के नवीन आयामों में प्रविष्ट होने का अवसर मिल जाता है। ऐसे लोगों के जीवन-सन्दर्भ में युग और समाज एक नये अप्रत्याशित रूप में गतिशील दृष्टिगत होता है। अतएव यदि उन्हें ही आधार बनाया जाय तो उपन्यास में जीवन के सर्वाधिक उत्कृष्ट भाग को चित्रित किया जा सकता है और उनके अनुभवों को अन्य व्यक्तियों तक पहुँचाया जा सकता है।

ऐसा देखा गया है कि विशेष शक्ति-सम्पन्न तथा विशिष्ट परिस्थितियों में आवृत पुरुषों को ही इतिहास नहीं भूलता, किन्तु यह एक सीमा के भीतर ही सत्य है। ऐसे पुरुषों के लिए ऐसा व्यक्ति होना आवश्यक है जो अपनी विशिष्ट शक्तियों अथवा परिस्थिति-जन्य घटनाओं के कारण एक बार जन-सामान्य की आँखों में बस गया हो। यदि हमारा ऐसे व्यक्तियों से सम्बद्ध ज्ञान एकाङ्गी न हो कर अनेकाङ्गी हो तो वे अवश्य ही 'इतिहास-विश्रुत' होने के साथ ही साथ 'ऐतिहासिक' भी होंगे। यदि कोई व्यक्ति अपने सार्वजनिक जीवन में स्मरणीय है तो संसार के सामने उसका व्यक्तिगत जीवन भी अलिखित तथा विस्मृत नहीं रहेगा, उसकी व्यक्तिगत बातें, उसके जीवन के अनुभव आदि भी अज्ञात नहीं रह सकेंगे, बशर्ते कि उन्हें जान-बूझ कर न छिपाया जाय। वह उपन्यासकार जो ऐसी बातों के प्रति सत्यनिष्ठ रह सकता है, उपन्यास की सीमा को और विस्तृत करता है तथा उपन्यास के राज्य में नवीन तथा तीव्रतर अनुभवों को प्रस्तुत कर जीवन के गम्भीर एवं दुराधर्ष भाग में उसकी खोज करता है। इस प्रकार वह जीवन के जिये हुए अत्यन्त मर्मस्पर्शी भाग को तीव्रतम बिन्दुओं पर स्पर्श करने में सफलीभूत होता है। इस प्रकार इतिहास उपन्यास को केवल पङ्ख ही नहीं प्रदान करता, वरन् नया आकाश भी प्रदान करता है।

क्षण का पुनर्निर्माण

ऐतिहासिक उपन्यासकार के लिए वे बातें, जो गम्भीर एवं इतिहास-विश्रुत हैं, उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं होतीं जितनी वे बातें जो क्षणिक किन्तु बाह्य हैं। एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक व्याख्यान या घोषणा उसके कार्यक्षेत्र में आ सकती है, राजनीतिक सन्धियों का वह उपयोग कर सकता है, किन्तु इतिहासकार जहाँ सम्पूर्ण घटना को राजनीति के विशिष्ट ढङ्ग से जोड़ने के लिए लालायित रहता है, वहाँ उपन्यासकार व्याख्याता के सिर-दर्द की ओर भी ध्यान देता है जिसने उसे पीड़ित बना दिया; भवन की उस भयङ्कर गर्मी की ओर भी ध्यान देता है जिसने उसे उत्तेजित कर दिया, उसके उन व्यक्तिगत कष्टों की ओर भी ध्यान देता है जिनके कारण वह अपने उन्मुक्त एवं स्वतन्त्र विचारों को नहीं रख सकता। किसी भी घटना के ऐतिहासिक महत्त्व का मूल्याङ्कन करने की अपेक्षा ऐतिहासिक उसके-क्षण को पुनर्निर्मित करने का प्रयत्न करता है और उन

ातों का अवलोकन करता है जिन्होंने किसी क्षण विशेष पर व्यक्ति को प्रभावित किया था, यद्यपि वे सर्वदा राजनीति से सम्बन्धित नहीं होतीं।

संसार में व्यक्तिगत पौरुष और सङ्घर्ष ही प्रायः महत्त्वपूर्ण घटनाओं को स्थापित करते है तथा व्यक्तिगत चिन्ताएँ, पक्षपात तथा परिवारों के कलह-द्वेष किसी देश के अधिकांश इतिहास का निर्माण करते हैं। इतिहास में ऐसे बहुत से क्षण आये हैं जबकि एक छोटी-सी घटना महान् जय-पराजय का कारण बन गयी है, ऐसे बहुत से अवसर आये हैं जबकि एक साधारण बात साम्राज्य के दुःखान्त नाटक की सूत्रधारिणी बन गयी है। और कौन जानता है कि ऐसी व्यक्तिगत बातो ने किसी साम्राज्य के इतिहास को कितना प्रभावित किया है ? इन सब बातों में व्यक्तिगत जीवन उस स्थान पर भी एक जटिल समस्या उत्पन्न कर देता है जहाँ वह महत्त्वपूर्ण घटनाओं की स्थापना नही करता। वस्तुतः सम्पूर्ण इतिहास ऐसी अनेक सम्भाव्य एवं कल्पनीय परिस्थितियों से भरा हुआ होता है जो उपन्यास में प्रयुक्त होने के लिए आमन्त्रित की जा सकती हैं। शुद्ध राजनीतिक अभिप्रायों के अतिरिक्त मनुष्य के जीवन में ऐसी अनेक व्यक्तिगत बातें—जैसे व्यक्तिगत असन्तोष, पारिवारिक सङ्घर्ष, मन की बहक, निरङ्कुश इच्छा, आदि—होती हैं, ऐसे अनेक क्षण होते है जो ऊपर से देखने में तो महत्त्वहीन एवं आकस्मिक-से लगते हैं, किन्तु इतिहास को दूर तक प्रभावित करते है। ऐतिहासिक उपन्यास, सम्भवतः जान-बूझ कर तो नहीं, फिर भी सतत इस बात का प्रधान रूप से प्रतिनिधित्व करता है। वह इतिहास में व्यक्तिगत बातों के प्रभाव को प्रमुखता देता है, मानव-जीवन को अखण्ड तथा अविभाज्य समझता है और उसके व्यक्तिगत कार्यों तथा सार्व-जनिक आचारों को एक-दूसरे से ऐसे घुला-मिला देता है, जैसा होना चाहिए, और सम्पूर्ण को मानव-प्रकृति के अध्ययन का विषय बना देता है।[११]

ऐतिहासिक उपन्यासकार किसी इतिहास-विश्रुत व्यक्ति पर दृष्टिपात करते समय उसके व्यक्तित्व का अवलोकन करता है जबकि वैज्ञानिक इतिहासकार उसको केवल राजनीति के यन्त्र के रूप में देखने को लालायित रहता है। ऐतिहासिक उपन्यासकार मानव-प्रकृति का स्पर्श करता है जबकि सामान्य इतिहासकार प्रसिद्ध घटनाओं एवं तथ्यों पर ही अपनी दृष्टि केन्द्रित रखता है। ऐतिहासिक उपन्यासकार की पर्यवेक्षण-सीमा में आने वाले हर ऐतिहासिक निर्णय का मूल कारण उस काल की राजनीति नहीं होती वरन् उस व्यक्ति की मानसिक अवस्था एवं व्यक्तिगत राग-द्वेष भी होते हैं जिनसे उसका निर्माण होता है। प्रत्येक महत्त्वपूर्ण नाम के पीछे ऐतिहासिक उपन्यासकार अपने जीवन के कुछ विशिष्ट अनुभवों से सम्पन्न एक मनुष्य को देखता है। वह इतिहास के धागे में उन अनुभवों को पिरो कर मनुष्य को प्रदान करता है तथा इतिहास जो कुछ देने में असमर्थ सिद्ध होता है उसे वह अपने व्यक्तित्व से समन्वित कर अपनी कल्पना से पूर्ण करता है। वस्तुतः अतीत का यही वास्तविक पुनर्निर्माण है। यही कारण है कि ऐतिहासिक उपन्यास मे युग और मनुष्य का जीवन बोल उठता है जबकि इतिहास प्रायः मृतक एवं रक्तहीन होता है।

इतिहास की बहुपक्षीयता

किसी ने कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने में कम से कम एक उपन्यास अपने जीवन के व्यक्तिगत सङ्घर्षों की एक कथा लिये रहता है एतिहासिक के सन्दर्भ मे इस कथन को

थोड़ा और बढ़ा कर कहा जाय तो कह सकते हैं कि प्रत्येक इतिहास-विश्रुत कथा-सूत्र, अतीत से लिया हुआ प्रत्येक काल-खण्ड स्वयं में केवल एक ही कथा को नहीं वरन् अनेक कथाओं को छिपाये रहता है। सभी कथाएँ एक ही समान सत्य होती हैं; सभी घटनाओं के उसी रूप को प्रदर्शित करती हैं जिस रूप में वे विभिन्न सम्बन्धित व्यक्तियों के सम्मुख आयी थीं और उनको प्रभावित की थीं। सभी कथाएँ एक ही सत्य के विविध पक्ष होती हैं।

जब किसी घटना या घटनाओं को देखने के लिए नवीन दृष्टिकोण अपनाया जाता है तो उनसे निर्मित कथा का सम्पूर्ण विश्व परिवर्तित हो जाता है और वही घटनाएँ एक अन्य रूप में सम्मुख आने लगती हैं। किसी घटना का अपराधी, घटनाग्रस्त व्यक्ति तथा नायक के दृष्टिकोण से वर्णन करना एक ही कथा को विभिन्न प्रकार से वर्णन करना मात्र नहीं, वरन् तीन नयी कथाओं को प्रस्तुत करना है। एक ही घटना एक व्यक्ति के लिए प्रसन्नता का कारण हो सकती है, दूसरे के लिए दुःख का कारण। यदि किसी कथा का सहानुभूति-केन्द्र बदल जाता है तो उसकी प्रत्येक बात का रूप ही कुछ अन्य हो जाता है। इतिहास की सम्पन्नता तथा जीवन की बहुपक्षीयता को इस कार्य की अपेक्षा अन्य कोई कार्य उचित ढङ्ग से स्पष्ट नहीं कर सकता। ऐतिहासिक उपन्यास-कार अपने अतीत प्रयोग में इसी को (इतिहास की सम्पन्नता एवं जीवन की बहुपक्षीयता को ही) प्रदर्शित करता है। वह सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के जीवन से एक कथा बना सकता है और उसके जीवन की उन्हीं घटनाओं द्वारा चाणक्य या नन्दवंश के अन्तिम सम्राट् की दृष्टि से एक भिन्न भिन्न कथा की रचना कर सकता है। इस प्रकार वह ऐतिहासिक घटनाओं के महत्व की अधिकता तथा विभिन्नता एवं इतिहास के बहुपक्षीय तात्पर्यों को प्रकाश में ले आकर इतिहास को सम्पन्न बनाता है।

इतिहास का अर्थ अतीतकालीन संसार तथा उसके कार्य-व्यापार की स्मृति से लिया जाता रहा है। किन्तु स्मृति के पश्चात् अनुभव तथा अनुभव-चिन्तन का स्थान आता है। अपने व्यक्तिगत जीवन में हम लोग उन बातों का स्मरण कर के ही सन्तोष नहीं कर लेते जो घट चुकी हैं, वरन् परस्पर उनकी चर्चा भी करते हैं, उनमें अर्थ भी खोजते हैं और उन्हें अनुभव-क्रम में नियोजित भी करते हैं। परिणामस्वरूप हमारा जीवन एक सङ्गति, एक अभिप्राय, एक प्रक्रिया सदृश दिखायी पड़ता है। इसी प्रकार एक ऐसा समय आता है जब कि इतिहास घटनाओं, युगों अथवा मनुष्यों की संस्कृति मात्र ही नहीं रह जाता वरन् ऐसा कुछ हो जाता है जो इन सबसे श्रेष्ठतर होता है। वह इन सभी को एक संग्रन्थित कर लेने वाला एक जाल, एक इकाई बन जाता है। इस अर्थ में इतिहास इस पृथ्वी पर मनुष्य का अनुभव है, उसके सङ्कल्पों की कहानी है; वह एक ऐसी धुन है जिसका वाद्यवृन्दीय अंश (orchestral part) सम्पूर्ण की महान् विचारधारा को अभिव्यक्ति प्रदान करता है, जिसका प्रत्येक क्षण, प्रत्येक वर्ष, प्रत्येक युग सङ्गीत-रचना की स्वर-लिपि (score) की एक नवीन ताल-रेखा (bar) प्रस्तुत करता है और सम्पूर्ण की निर्मिति को कुछ और आगे तक वहन कर ले जाता है। इतिहास वस्तुतः मनुष्य तथा उसके साहस-भरे कार्यों की कहानी मात्र ही नहीं है, वह मानव-जाति का महाकाव्य है।

इतिहास को उपर्युक्त दृष्टिकोण से देखने पर वैयक्तिक जीवन इतिहास का मुख्य केन्द्र नहीं रह जाता और स्त्री-पुरुष तथा उनके जीवन-व्यापार कार्यों की सम्पूर्ण धारा में उर्मियों के

समान खण्ड-खण्ड दृष्टिगत होते हैं एवं सम्पूर्ण जीवन-प्रणाली का जीवन-स्पन्दन अथवा ऐतिहासिक क्रान्ति की लहर ही कथा का वास्तविक विषय-सूत्र बन जाती है। वह कलाकार, जो प्रभञ्जन को चित्र या शब्द में बाँधने का प्रयत्न करता है, जानता है कि उसका अर्थ क्या है। वह चाहे तो उस प्रभञ्जन द्वारा विकीर्ण पत्तों, झुके हुए वृक्षों तथा ध्वस्त वीरान जनपद को प्रदर्शित कर सकता है, किन्तु ये सब स्वयं प्रभञ्जन नहीं हैं। वह चाहे तो मन्द समीरण के साथ अठखेलियाँ करते हुए अथवा भीषण लहरों से मदोन्मत्त सागर पर सन्तरण करते हुए जलपोत को चित्रित कर सकता है, किन्तु वे स्वयं पवन नहीं हैं। वह चाहे तो आपके केशों के साथ किलकारियों अथवा हरित-भरित तृणाङ्कुरों के साथ उसके नर्तन का वर्णन कर सकता है—किन्तु ये सब भी पवन नहीं है। ये सब तो वास्तव में प्रभञ्जन के परिणाम हैं और सच बात तो यह है कि उसका वर्णन उसके कार्य-परिणाम के माध्यम से ही हो सकता है। इतिहास के सम्बन्ध में भी यही बात सत्य है। ऐतिहासिक आख्यान का महाकाव्य मूर्त, विशिष्ट एवं ठोस वस्तु का ही वर्णन करता है, लेकिन उनकी पृष्ठभूमि में निहित एक ऐसे जीवन्त-सिद्धान्त को भी व्यञ्जित करता चलता है जो उन्हीं के भीतर क्रियाशील रहता है तथा उन्हीं के माध्यम से स्वयं को अभिव्यक्त करता है। वैसे जब ऐतिहासिक उपन्यासकार के भीतर का महाकाव्यकार अतीत के जीवन को देखता है तो उसे घटनाओं, विवरणों एवं दृष्टान्तों का सञ्चित अम्बार दीख पड़ता है, किन्तु वह इन सभी में एक समन्वय-सूत्र खोज निकालता है, एक महान् हृदय के स्पन्दनों का दर्शन पाता है तथा यह अनुभव करता है कि इन सब के पीछे एक ही जीवन-तत्त्व कर्मरत है और मनुष्य को उसी प्रकार अपने साथ वहन करता चलता है जैसे ज्वार झाग को बहाता चलता है अथवा जैसे वसन्त के साथ कलियाँ खिल उठती हैं।[२०]

इस प्रकार, ऐतिहासिक उपन्यास, इतिहास-प्रयोग की एक पद्धति अथवा अतीत को निरूपित करने का एक ढङ्ग मात्र ही नहीं है, वरन् अतीत के युग और जीवन की विविधता एवं सूक्ष्मता को व्यापक तथा प्रभावशाली ढङ्ग से व्यञ्जित करने की श्रेष्ठतम पद्धति है। यह एक ऐसी शक्तिशाली, योजनाबद्ध एवं कलात्मक अभिव्यक्ति है जो सामान्य उपन्यासों तथा इतिहास से अधिक शक्ति वहन करता है। इसका नायक केवल मनुष्य नहीं होता वरन् मनुष्य-रूप में एक शक्ति होती है। अतीत के प्रति इसकी दृष्टि परोक्ष में कार्य करने वाली महानतम शक्तियों में से एक होती है जो नियति को विजित करने का प्रयत्न करती है और अतीत के संसार को सम्मुख आने के लिए बाध्य करती है। वास्तव में ऐतिहासिक उपन्यास, उपन्यास-रूप में मानव-की ही एक महान् जीवन-गाथा है। ●

सन्दर्भ-संकेत

●

१. डॉ० बुद्धप्रकाश : इतिहास दर्शन, पृष्ठ १३४।

2. Historical novels, even the greatest of them, cannot do the specific work of history They are not dealing except occasionally with the real facts of the past They attempt instead to create in a profusion and

wealth of nature typical cases n tiated f om l ut not de t c l w th recorded facts. In one sense this is to make the past alive, but it is not to make the events alive and therefore it is not history.—G. Trevelyan : Clio : A Muse and Other Essays) में सङ्कलित 'History and Fiction' शीर्षक लेख।

3. If we find nothing else, we find the sentiment of history, the feeling for past in the historical novel. On one side, therefore, the historical novel is 'form' of history. It is a way of treating the past (—H. Butterfield : The Historical Novel, page 2.)

४. रवीन्द्रनाथ ठाकुर : साहित्य (निबन्ध-संग्रह), १९२९ ईसवी, अनुवादक : वंशीधर विद्यालङ्कार, पृष्ठ १०२।

५. वही, पृष्ठ संख्या १०५।

६. चतुरसेन शास्त्री : वैशाली की नगरवधू, भूमिका, पृष्ठ ७७५-७७ (तृतीय, सं० १९५९)।

७. वही, पृष्ठ ७७५-७६।

८. देखिए, बी० एम० चिन्तामणि की 'ऐतिहासिक उपन्यासों में कल्पना और सत्य' नामक पुस्तक में डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी-लिखित प्रस्तावना-भाग।

९. शिवनारायण श्रीवास्तव—'ऐतिहासिक उपन्यास', 'साहित्यायन', जौनपुर, वर्ष १, अङ्क १, पृष्ठ १५।

10. In this it is linked up with legend and tradition of localities and popular ballads; like these it goes beyond authentical data of history book, the definitely recoverable things of the past, in order to paint its picture and tell its story; and like these it often subordinates fidelity to the recovered fact of history and strict accuracy of detail to give some other kind of effective-ness. And these legends and popular stories are related to the historical novel in a way similar to that in which a snatch of folk-song is related to the music of cultured genius.—H. Butterfield : Historical Novel, Page 3.)

11. The memory of the world is not a bright shining crystal but a heap of broken fragments, a few fine flashes of light that break through the darkness. And so history is full of tales half-told and of tunes that break off in the middle. (—वही, पृष्ठ १५-१६।)

12. So when we read history, if we wish, not merely to see great figures strutting upon a stage, acting a public past, but to fill in the lives of the picture with the robust life of the countryside and to catch the hundred human touches, if we wish, say, to see the vivid life of three hundred years ago stirr ng n tl e crooked streets ar d topsyturvy houses we must change

our history with some of the human things that are irrecoverable, we must reinforce history by our imagination. (—वही, पृष्ठ १७)

13. What matters, therefore, in historical novels is not the re-telling of great historical events, but the poetic awakening of the people who figured in these events. What matters is that we should re-experience the social and human motives which led men to think, feel and act just as they did in historical reality. (—George Lukács : The Historical Novel, page 42.)

14. Fiction is like the dust which creates a sun beam and helps the sunlight to show that it is there. (—H. Butterfield : The Historical Novel, page 28)

15. Ernest E. Leisy : American Historical Novel, page 8.

१६. रामधारी सिंह 'दिनकर' : संस्कृति के चार अध्याय (तृतीय संस्करण की भूमिका-भाग), पृष्ठ ७।

17. The historical novelist receives his hints from history but this hint needs not necessarily be a story ready-made, a sequence of events to be followed. Many historical novels are stories straight from a history book, amplified and rounded off by fiction perhaps and retold with some variations. History may provide plot and adventure, and fiction may just fill in the lines where history is inadequate and idealise incidents and characters where history is incomplete and disappointing. (—H. Butterfield : Historical Novels, page 29.)

18. Whereas the historian looks back to the past in the light of the present, historical novelist reprojects himself into the period of his choice and is concerned more with re-creating something akin to the actual experience than with appraising it in the light of what happened later. He is there with the actors, living through the experience. (—Ernest E. Leisy : The American Historical Novel, page 7).

19. The historical novel, not consciously perhaps, but still demonstrably stands for this fact. It emphasises the influence of personal things in history, it regards man's life as a whole and runs his private action and his public conduct into each other as it ought to do and it turns the whole into study of human nature. (—H. Butterfield : The Historical Novel, page 73.)

20 The ep c in historical fiction describes the tangible and the particu ar and the concrete but t si ggests a living pr nciple behind these work

ing n these and only manifesting itself in them The (
the life of the past sees an accumulation of events, of
but in them all he divines a synthesis and sees one thiol
behind them all he feels one life principle working its
men with it as tide carries the foam or as spring brings l
field : The Historical Novel, page 84.)

सन् १९६२ की साहित्यिक एवं सांस्कृतिक उपलब्धियाँ

•

लक्ष्मीकान्त वर्मा

सन् १९६२ का भारतीय जन-मानस प्राय: असाधारण परिस्थितियों का साक्षी रहा है। इस वर्ष की क्रियाशील बौद्धिक जागरूकता के समक्ष कठिन अग्नि-परीक्षाएँ प्रस्तुत होती रही हैं। भाषा-विवाद, राष्ट्रभाषा की समस्या, अंग्रेजी को ज़बर्दस्ती लादने का प्रयास, क्षेत्रीय स्तर पर प्रस्तुत समस्याओं को ले कर उत्पन्न तनाव एवं सांस्कृतिक स्तर पर सरकारी एवं ग़ैर-सरकारी नीतियो मे वैजम्य---इस प्रकार की अनेक समस्याएँ भारतीय मनीषा के समक्ष उठ खड़ी हुई हैं। इन विवादो, आग्रहों एवं दुराग्रहों के समक्ष आज के लेखक को भावात्मक अतिरेक और संवेदनात्मक कचोट ही का सामना करना पड़ा है। इसीके बीच चीनी आक्रमण ने भी हमारे देश के बौद्धिक वर्ग को बुरी तरह से झँझोड़ कर रख दिया है। भावात्मक अतिरेक में आक्रोश, क्षुब्धता एवं प्रतिरोध की मात्रा अधिक रही है। पहले से व्याप्त शान्ति एवं मैत्रीपूर्ण स्थिति तथा मूल्यों के स्तरों मे ये ज्वाला-मुखियाँ केवल आतङ्क एवं अतिसाहसिकता को ही जन्म दे रही हैं। इन असाधारण स्थितियों को शायद आज से अधिक तीखे ढङ्ग से भोगने का अवसर और कभी नहीं आया था। आज वर्षान्त मे भी स्थिति वही है। भाषा के रूप में, मूल्यों के स्तर पर, विवादों के परिशिष्ट में, महाकाव्यो की भूमिकाओं एवं सांस्कृतिक आयोजनों के तन्त्र में एक ही भावना बार-बार उठती है: हम कहाँ हैं? ये स्थितियाँ बड़ी हैं या हम बड़े हैं? यह विरोधाभास, यह व्यंग्यात्मक व्यञ्जना, यह दृष्टिहीनता की हल्की झाँई, यह मूल्यों का बिखराव क्यों है? इससे निष्कृति का मार्ग क्या हे? क़लम और फ़ौलाद के साक्ष्य में हमारी स्थिति कहाँ है? सीमान्त पर लड़ने वाला सैनिक अधिक सार्थक है, या हम सार्थक हैं जो केवल क़लम घिसते हैं, विचारों की, कल्पनाओं की, अनु-भूतियो की दुनिया रचते हैं? आज ये अनेक प्रश्न-चिन्ह हैं जो सहसा उठ खड़े हुए हैं। रचना, निर्माण स्वप्न एवं कल्पना की कोमलता को कठोर आघातों का सामना करना पड रहा है। आन्तरिक स्तर पर हम कतिपय सांस्कृतिक एव भाषा सम्बन्धी नीतियो से विक्षुब्ध हैं उससे भी

अधिक उत्तेजित हैं विदेशी आक्रमणकारियों की पशु-वृत्ति से। जिनकी आस्था भारतीय नीति मे थी, वे हतप्रभ हैं। जो उस नीति के आलोचक थे, वे किङ्कर्तव्य-विमूढ से केवल चीखते-चिल्लाते हैं। जिन्होंने देश की विदेशी नीति एवं भाषा तथा सांस्कृतिक नीति की आलोचना की थी, वे आज और अधिक चिन्तित हैं। व्यंग्य की स्थिति दोनों ही भोग रहे हैं। वे जो धारा के साथ थे शायद भ्रम-जाल से मुक्त हैं। वे जो असहमत थे, विरोध में थे, वे भी उस चोट को सहन करने में उतनी ही तीव्र वेदना का अनुभव कर रहे हैं।

राष्ट्रीयता : नये सन्दर्भ में

प्रस्तुत स्थिति की साहित्यिक एवं सांस्कृतिक उपलब्धियों का मूल्यांकन भी कठिन कार्य है। कभी-कभी इस प्रकार की भावनाएँ भावात्मक गतिरोध पैदा कर देती हैं। केवल प्रश्न-चिन्ह ही शेष बचते हैं। विचारों का क्रम खण्डित हो जाता है। दुहरी चेतनाओं के साथ जीना पड़ता है। विष की कड़ुआहट को तो पीना ही पड़ता है, साथ ही स्थिति ऐसी होती है कि चेहरे पर एक भी शिकन न आने देने की चेष्टा करनी पड़ती है। एक ओर जहां नये-पुराने, इतिहास और परम्परा का द्वन्द्व है, आधुनिकता के सन्दर्भ में मूल्यों का निरूपण और नयी दृष्टि की अन्वेषणा मे आज का भारतीय बौद्धिक वर्ग जागरूक है, वहीं यह भी सत्य है कि वर्तमान संक्रमण में यदि हम अपने अस्तित्व की रक्षा करना चाहते हैं, यदि अपनी स्वतन्त्र सत्ता की रक्षा करना चाहते है, यदि सम्पूर्ण राष्ट्रीय चेतना को एक सूत्र में बाँधने की चेष्टा करना चाहते है, तो आधुनिकता की बहुत-सी कसौटियाँ शायद समस्त भारतीय जन-मानस को—विशुद्ध मानवीय होते हुए भी—जागरूक करने में क्षम्य नहीं हो पा रही हैं। यह नहीं कि उस आधुनिकता की दृष्टि में कोई खोट है, या यह कि वह अपूर्ण है, वरन् वह मात्र इसलिए कि सम्पूर्ण राष्ट्र की मानवीय चेतना, उसका मानसिक स्तर अधिकांशतः मध्यकालीन, साहसिक मिज़ाज का होने के नाते उसकी समग्रता को वहन करने मे असमर्थ है। राष्ट्रीय होने में, साहसिक होने में, आधुनिक होने मे, मानवीय होने में जैसे एक झूठी आशङ्का-सी होने लगी है। यद्यपि आधुनिकता राष्ट्रीय एवं मानवीय होने में विरोध तो नही उत्पन्न करती किन्तु सतही तौर से देखने पर ऐसा लगता है जैसे उनमें कोई बड़ा विरोध है। वस्तुतः आज के सन्दर्भ में आधुनिकता के अर्जित सन्दर्भ को ग्रहण करना ही अधिक मानवीय है।

१९६२ की मुख्य विचारधारा को हम इसी दृष्टि के अन्वेषण में प्रयत्नशील पाते है। लहर, कल्पना, वासन्ती, धर्मयुग, ज्ञानोदय एवं अन्य पत्र-पत्रिकाओं में इसी विचार के पक्ष और विपक्ष के विवाद मिलते हैं। १९६१ में परिमल के तत्त्वावधान में इसी विषय को ले कर एक गोष्ठी की गयी थी और उसके उपरान्त तत्सम्बन्धी विचारों का विवाद भी उठाया गया था। इस सम्बन्ध में कोई विशिष्ट पुस्तक तो अभी तक नहीं आयी है, किन्तु डॉ० देवराज, डॉ० रघुवंश, डॉ० विपिन अग्रवाल एवं अन्य कई लेखकों के मत एवं लेख आदि बराबर छपे हैं। आज भी यह समस्या उतनी ही ज्वलन्त और महत्त्वपूर्ण है।

हिन्दी और उसके स्वरूप का प्रश्न

१९६२ की दूसरी प्रमुख मुख्यत भाषा को ले कर उभर कर आयी है

शासन-सत्ता का अंग्रेजी पर अधिक बल रहा है। विशेष कर के केन्द्रीय सरकार ने इस बात की हर प्रकार से चेष्टा की है कि हिन्दी के स्थान पर एवं हिन्दी की सहयोगी भाषा के रूप में अंग्रेजी को स्थान दिया जाय। राजनीतिक संस्थाओं के अतिरिक्त हिन्दी-संस्थाओं एव लेखको ने तत्सम्बन्धी विचारों को नितान्त निर्भीकता के साथ खण्डन किया है। कई लेखक-सम्मेलनो मे इस समस्या को और गहराई से उठाया गया। क्षेत्रीय भाषाओं को प्रतिष्ठित करने की बात उठायी गयी और अग्रेज़ी का विरोध किया गया। हिन्दी की प्रायः समस्त पत्र-पत्रिकाओं में इस विषय को ले कर काफ़ी चर्चाएँ उठायी गयीं और उनपर प्रकाश डालने की चेष्टा की गयी। इस दृष्टि से देखा जाय तो १९६२ में प्रत्येक पत्र-पत्रिका में अंग्रेजी का विरोध और क्षेत्रीय भाषाओं का समर्थन बड़े स्पष्ट रूप में उभर कर आया है। क्षेत्रीय भाषाओं की प्रतिष्ठा एवं उनके सम्मान को उठा कर हमने भाषा-आन्दोलन को एक नया यथार्थवादी मोड़ दिया है।

रेडियो की भाषा-सम्बन्धी नीति का भी खुल कर विरोध किया गया है। नयी सरकार की स्थापना के साथ-साथ सत्ता ने पहला प्रहार रेडियो में स्थापित एवं प्रचलित हिन्दी पर किया था। प्रारम्भ मे कुछ दिनों तक तो ऐसा लगा था जैसे रेडियो में, विशेष कर समाचार बुलेटिनो मे, केवल उर्दू का ही प्रचार हो रहा है। उर्दू से किसी का कोई विरोध नहीं था किन्तु हिन्दी के सरली-करण के नाम पर उर्दू के कठिन से कठिन 'मुरक्कब' 'तरकीबों' और 'ऐज़ाफ़तों' को लादने के प्रयास से किसी सुरुचि का परिचय कदापि नहीं मिलता था। इस रेडियो-नीति को ले कर भी हिन्दी पत्र-कारों, लेखकों एव पत्र-पत्रिकाओं ने बड़ा ही स्वच्छ एवं विचारवर्धक विवाद चलाया। फलस्वरूप रेडियो की भाषा-नीति में भी परिवर्तन हुआ और नयी दिशाओं का निर्माण किया गया।

यदि इस दृष्टि से देखा जाय तो वर्तमान स्थितियों में १९६२ का विशेष साहित्यिक एव सास्कृतिक आन्दोलन इन्ही दो प्रमुख विचारधाराओं पर केन्द्रित रहा है। मूल्य की दृष्टि से आधु-निकता का प्रश्न नितान्त ज्वलन्त और महत्त्वपूर्ण रहा है। भाषा की दृष्टि से भी हमारा आन्दोलन अभी समाप्त नहीं हुआ है। दोनों के ज्वलन्त पक्ष सामान्य रूप से वर्तमान हैं।

समसामयिक दायित्व : सीमान्त के सन्दर्भ मे

चीनी आक्रमण ने कुछ अन्य समस्याओं को भी उत्तेजित किया है। ऐसा लगता है कि देश की सङ्कटकालीन स्थिति को ले कर लेखकों और कवियों की चेतना को सहसा विस्फोट का सकेत मिल गया। समस्त हिन्दी-पत्र-पत्रिकाओ में एक साथ कई समस्याएँ जाग उठीं। देश की स्थिति पर कई प्रकार के नये गीत, नयी रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में देखने को मिलीं। दिनकर, नरेन्द्र, बच्चन, शमशेरबहादुर सिह, अश्क, उमाकान्त मालवीय आदि कई लेखको ने पत्र-पत्रि-काओं एवं रेडियो के माध्यम से देश की सङ्कटकालीन स्थिति में सङ्कल्प-शक्ति और नयी चेतना को जागरूक बनाने के लिए अपनी रचनाओं को प्रेषित किया। शिवप्रसाद सिंह ने रेडियो-रूपक द्वारा और अन्य कई लेखको ने अन्य माध्यमों से इस अवसर पर अपना योग-दान दिया। यद्यपि वर्तमान राष्ट्रीय सङ्कट को ले कर प्राय. समस्त लेखकों ने अपने-अपने विचार व्यक्त किये ह, उत्साहवर्धक रचनाएँ—विशेष कर कविताएँ लिखी—हैं किन्तु अभी तक ऐसा कोई भी साहित्य नहीं हो सका है जिसे हम किसी भी प्रकार से कलापूण कृति कह सक वस्तुत ऐसे सङ्कट

के समय मे ही कलाकार की परीक्षा होती है एक ओर स्थितियाँ इतनी नितान्त समसामयिक होती है कि किसी भी प्रकार की वस्तुपरक दृष्टि बन नही पाती अव्यवस्थित अनगढ़ भावनाओं का अतिरेक ही उमड़ कर आता है। कलाकार, शिल्पी का दायित्व इसलिए भी और गहन हो जाता है कि इस भावात्मक अतिरेक में अनुशासन, संयम और दृष्टि की वास्तविक परीक्षा होती है। खेद की बात है कि अभी तक कोई भी उपलब्धि साहित्य एव कला के क्षेत्र मे, उस स्तर तक नही पहुँच सकी है। अभी केवल भावनाओं का फेन ही ऊपर आया ह, उसे अनुभूति की गहराई और उसमे सम्बन्धित अन्तर्वेदना-संवेदना को अभिव्यक्ति नही मिल पायी है। यद्यपि इस आक्रमण ने हमे इतिहास के स्तर पर, विचार के स्तर पर, दृष्टि के स्तर पर कस कर झंझोड़ा है, किन्तु मूल्यो के संक्रमण एवं पक्षाघात की वेदना अभी भी केवल रूढ़ि के, प्लेटीट्यूड्ज़ के ही स्तर तक रही है।

वर्तमान सङ्कट की अभिव्यक्ति के लिए अभी भी समय बहुत कम है। केवल कुछ ही कृतियाँ अभी तक उपलब्ध हो सकी हैं—एक तो श्री रणदिवे की फ़ीचरनुमा नाटिका 'मेरा दोस्त मेरा दुश्मन' है। इसके अतिरिक्त यत्र-तत्र बहुत-सी रचनाएँ छपी है जिनका उल्लेख मात्र इसलिए नही किया जा सकता कि अभी तक इस बाढ़ का थिराया हुआ जल हमें उपलब्ध नही हो सका है।

चार धरातल

जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, कि विचार के स्तर पर चार मुख्य विषय भारतीय जीवन एव हिन्दी के बौद्धिक वर्ग को विशेष रूप से प्रभावित किये रहे—१. भाषा की समस्या; २ आधुनिकता, परम्परा और इतिहास से सम्बन्धित विचार; ३. चीनी आक्रमण से उपजी संक्रमणात्मक स्थिति; तथा ४. रेडियो एवं सरकारी नीति के विरोध में लेखकों का सङ्घर्ष।

प्रयाग में २०-२१, सितम्बर को जो लेखक-सम्मेलन आयोजित किया गया उसमें अंग्रेजी भाषा को बलात् हिन्दी-भाषा-भाषी जनता पर आरोपित करने के प्रयास का घोर विरोध किया गया। सम्मेलन के निर्णयानुसार अनेक हिन्दी-लेखकों ने, जिनमें श्रीमती महादेवी वर्मा, श्री बालकृष्ण राव, डॉ० रामकुमार वर्मा तथा श्री उपेन्द्रनाथ अश्क जैसे वयोवृद्ध लेखक एवं साहित्यकार भी सम्मिलित थे, रेडियो की भाषा-नीति का विरोध करते हुए रेडियो के अनुबन्ध-पत्र की माँग हिन्दी में की। यद्यपि यह माँग किसी भी प्रकार से नाजायज या गलत नहीं कही जा सकती, फिर भी सरकार ने इसके प्रति उपेक्षा की ही दृष्टि रखी और आज तक उसने इस माँग पर विचार भी न किया। रेडियो की सूचना-सम्बन्धी भाषा का भी घोर विरोध किया गया। इसका विरोध करने वालों में श्री अमृतलाल नागर, श्री यशपाल, श्री भगवतीचरण वर्मा, श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' आदि विशेष उल्लेख्य हैं। यद्यपि रेडियो ने अब अपनी नीति मे काफ़ी परिवर्तन कर लिया है, फिर भी पूरी भाषा-नीति अब भी कई अर्थों में ग़लत ही कही जा सकती है।

हिन्दी की प्राय: सभी पत्र-पत्रिकाओं ने इस सम्बन्ध में अपने मत प्रयाग के लेखक-सम्मेलन के पक्ष में ही व्यक्त किये हैं और अंग्रेजी के सरकारी प्रयोग का जम कर विरोध किया है। हिन्दुस्तान, कल्पना, धर्मयुग एवं लहर आदि पत्र-पत्रिकाओं ने भी विरोध व्यक्त किया है किन्तु राष्ट्रीय सङ्कट के काल में इस विवाद को स्थगित कर दिया गया है।

इस समस्त आन्दोलनो और सम्मेलनो से सम्बद्ध साहित्य एक नये प्रकार के दृष्टिकोण

को जन्म दे रहा है। सहिष्णुता, जो किसी भी विचारधारा की आन्तरिक शक्ति है, तीव्र रूप मे विकसित हो रही है। साथ ही अन्य भारतीय भाषाओं के पठन-पाठन को बल मिल रहा है। आधुनिकता के विषय को ले कर वर्तमान साहित्य और चिन्तन के क्षेत्र में सर्वथा नयी जिज्ञासाएँ और नये अन्वेषण-विवेचन भी काम कर रहे हैं। 'कल्पना' में इस विषय को ले कर डॉ० देवराज और अन्य विचारकों द्वारा 'क्लैसिसिज़्म' और 'नियो-क्लैसिसिज्म' के विषय पर अच्छा विवाद चला है। 'लहर' के स्तम्भों में भी चर्चा वर्तमान है। चीनी आक्रमण ने भी इसी प्रकार भारतीय चिन्तकों को सोचने के लिए मजबूर कर दिया है।

जहाँ तक हिन्दी उपन्यास साहित्य की प्रगति का प्रश्न है, १९६२ में कहने के लिए तो कई महत्त्वपूर्ण प्रकाशन हुए हैं। श्री भगवतीचरण वर्मा का उपन्यास 'सामर्थ्य और सीमा' डॉ० रघुवंश का 'अर्थहीन' केशवचन्द्र वर्मा-कृत 'आँसू की मशीन' महत्त्वपूर्ण है। श्री भगवतीचरण वर्मा का उपन्यास वर्तमान युग के मूल्यगत संक्रमण पर आधारित विभिन्न मतावलम्बियों के जीवन-दर्शन तथा उनकी अमानवीय सीमाओं के बीच में विकसित हुई आत्मघाती प्रवृत्तियों पर बहुत अच्छा प्रकाश डालता है। सीमाएँ मनुष्य की अपनी ही नहीं, बाह्य और आन्तरिक दोनों ही होती हे। इन दोनों के बीच जिस स्रोत से उसे शक्ति मिलती है वह है उसके समार्थ्य की यथार्थ दृष्टि। यद्यपि श्री भगवतीचरण वर्मा किन्हीं विशिष्ट विचार वालों के प्रति उतने उदार नहीं हो पाये हे जितना कि उन्हें अपने उपन्यास के आन्तरिक गठन के अनुरूप होना चाहिए, फिर भी 'सामर्थ्य और सीमा' का एक डाकूमेण्ट के रूप में बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है और बावजूद लेखक के व्यक्तिगत आग्रहों के 'सामर्थ्य और सीमा' एक महत्त्वपूर्ण कृति है।

इसी तथ्य और इन्हीं संक्रमण-प्रधान स्थितियों का चित्रण करने वाला दूसरा लघु उपन्यास डॉक्टर रघुवंश का 'अर्थहीन' है। इस लघु उपन्यास में स्वातन्त्र्योत्तर काल की विभिन्न मन स्थितियों की सापेक्षता में संघर्षकालीन मूल्यों की निरर्थकता एव आधुनिकता के परिवेश मे अधिक मांसल भोग के दर्शन के बीच पनपे हुए 'कैलस' मनोवृत्ति का चित्रण किया गया हे। वैसे शैली में शिथिलता है, फिर भी भाव-स्थिति में एक साथ कई पीढ़ियों के संघर्ष को प्रस्तुत करने का प्रयास वास्तव में कई नये भाव-तत्त्व प्रस्तुत करता है।

केशवचन्द्र वर्मा द्वारा लिखित 'आँसू की मशीन' भी बाह्य अनुकृति और मूल्यगत विघटन के व्यंग्यों को चित्रित करने वाली महत्त्वपूर्ण कृति है। केशवचन्द्र वर्मा के इस उपन्यास की शैली एव तथ्य में हमें एक नयी गहराई मिलती है। शासन-सत्ता के खोखले वाग्जाल वाली भीरुता की व्यग्यात्मक व्यञ्जना कहीं-कहीं इतनी करुण एवं मार्मिक हो गयी है कि वह बरबस ही कहीं हमारे अन्तर को बुरी तरह कुरेद देती है। यदि भगवती बाबू के उपन्यास में हमें आधुनिकता और उसके विरोधाभास में कुण्ठित मानव-जीवन का आत्मघाती मरुस्थल मिलता है, तो रघुवंश जी के उपन्यास में एक जटिल 'एजिटेशन' और आक्रोश तथा केशवचन्द्र वर्मा के उपन्यास केवल व्यग्यात्मक स्थिति का परिचायक हैं।

इसी वर्ष श्री विश्वम्भर मानव के दो उपान्यास सर्वथा प्रेम और रोमानी उद्देश्यो को ले कर लिखे गये हैं। विश्वम्भर मानव यद्यपि एक कुशल कथाकार नहीं हैं फिर भी समस्त अन-गढ़पने के उनकी कृतियों मे से कावेरी' और नदी' इस वष के साहित्य मे ९

हे क की ग्राम सेविका अनिरुद्ध पाण्डय की मन का आग्र नग्ग मन्ना का यह पथ बन्धु था इस वर्ष की अन्यतम उल्लेखनीय कृतियां म स न्नम स का ग्राम सेविका' और नरेश मेहता का 'यह पथ बन्धु था' दोनों दो महत्वपूर्ण अनुभूतियों के परिचायक है। अमरकान्त का उपन्यास वर्तमान युग के ग्रामीण जीवन और उसमें आधुनिकतम नवीन योजनाओं और विवादों के सन्दर्भ में विकसित हुए जीवन के कठिन और कठोर अर्थों को व्यक्त करता है। वस्तुतः आज गाँवों में पुरानी टूटती हुई व्यवस्था और नयी व्यवस्था के बीच तनाव होने के कारण जो अनेक प्रकार की दुविधाएँ, शंकाएं एवं विकृतियाँ आ गयी हैं, उन्हीं का उद्-बोधन ग्रामसेविका में किया गया है। श्री नरेश मेहता का उपन्यास वर्तमान जीवन में मध्य वर्ग के 'मैनरिज्म'' और उसके मूल्यगत संक्रमण में पनपता हुआ अर्थहीन आग्रहों में आधारभूत मानव संवेदनाओं की सूक्ष्मतम बिखरावों को अङ्कित करता है। नरेश की अपनी एक शैली है और समस्याओं को देखने की दृष्टि है। उसकी सार्थकता इस उपन्यास में पूर्ण रूप से उपलब्ध तो नहीं हो पायी है लेकिन फिर भी वह अनुभूति के नये स्तरों का परिचय अवश्य करती है।

पाकेट बुक सीरीज़ मे इस वर्ष लगभग '५० उपन्यास प्रकाशित हुए हैं। 'धर्मयुग' में मोहन राकेश द्वारा लिखित 'नीली बाँहों की रोशनी', ज्ञानोदय में राजेन्द्र यादव और मन्नू भण्डारी द्वारा लिखित 'एक इंच मुस्कान' भी उल्लेखनीय हैं। मोहन राकेश में मानव-संवेदना के अन्तरतम मे बिंधी जीवन की विकलाङ्ग पीड़ा और उसके साथ छोटी-छोटी घटनाओं को पिरो कर उनकी एकसूत्रात्मकता से गहरे मर्मपूर्ण संवेदनाओं को व्यक्त करने की बड़ी कुशल क्षमता है। इस उपन्यास में भी उनके प्रत्यक्ष दर्शन किये जा सकते हैं। राजेन्द्र यादव और मन्नू भण्डारी के उपन्यास मे वर्तमान जीवन के अन्यतम पक्षों को ले कर एक कथासूत्र की रचना की गयी है।

उपन्यास के क्षेत्र में इस वर्ष यशपाल, फणीश्वरनाथ रेणु, उपेन्द्रनाथ अश्क, कमले-श्वर आदि की कोई भी कृति नहीं आ सकी। एक दृष्टि से यदि देखा जाय तो प्रस्तुत सन्दर्भ मे कथा-साहित्य में कोई विशेष उपलब्धि नहीं हुई है। केवल तीन या चार उपन्यास ही महत्त्वपूर्ण कहे जा सकते हैं: सामर्थ्य और सीमा, आँसू की मशीन, अर्थहीन एवं यह पथ बन्धु था।

कहानियों की दिशा में भी यही बात कही जा सकती है। केवल तीन कहानी-संग्रह इस वर्ष के प्रकाशनों में उल्लेखनीय हैं। मार्कण्डेय का 'माही' और रघुवंश का 'अर्थहीन' नाम के कहानी-सग्रह ही महत्त्वपूर्ण हैं। मार्कण्डेय की कहानियों में इधर एक नया मोड़ आया है। यौन कुण्ठाओं एवं उसकी विकृतियों को व्यक्त करने के लिए ही जैसे यह कहानियां लिखी गयी हैं। कुछ भी लिखना साहित्य में वर्जित नहीं किया जा सकता किन्तु सबल कृति वही होती है जिसमें अनुभूति के पक्षों का समर्थन होता है। मार्कण्डेय की कहानियों में तथ्य है, उनकी मार्मिक दिशाएँ नहीं है। पाश्चात्य साहित्य में, 'ड्राल स्टोरीज' और मोपासाँ की कहानियों मे हमें जिस प्रकार की अनभूति मिलती है उसमें केवल जिस्म का रुचिकर नंगा प्रदर्शन नहीं है. जिस्म की नग्नता भी केवल एक लाश की नग्नता नहीं दीखती लगता है कि उस जिस्म में बैठा कोई स्पन्दन कोई

स्फूर्ति, कोई चेतना ऐसी है जो हमारे अन्तरतम के तन्तुओं को झंकृत कर देती है। चाहे वह अश्क का संग्रह 'पलंग' हो अथवा मार्कण्डेय का कहानी संग्रह 'माही' हो, उन दोनों की यही सबसे बड़ी असफलता रही है।

इसके विपरीत मानव सहृदयता एवं उसके करुण पक्षों से ओत-प्रोत कहानियाँ हमे डॉ० रघुवश के संग्रह में मिलती है। कहानियों में नितान्त मानवीय पक्षों को एक साथ ही कई स्तरों पर प्रस्तुत करने का सफल प्रयास डॉ० रघुवंश की कृतियों में हमें मिलता है।

उपन्यास की भाँति कहानी की दिशा में भी यह ठहराव कुछ हमारे मन को कचोटता है। जैनेन्द्र की कहानियों का कोई भी सङ्कलन कई वर्षों से नहीं मिलता है। कुछ फुटकर कहानियाँ माया में इस वर्ष और पिछले वर्ष पढ़ने को मिली थीं, कम से कम भगवती चरण वर्मा, यशपाल और जैनेन्द्र की कहानियों को फिर से आना चाहिए। आज का नया लेखक जिन तथ्यों को अपनी कहानियों में अङ्कित कर रहा है वे तथ्य केवल उसी तक सीमित नहीं हैं। उनके साथ साथ हमारी पिछली पीढ़ी को भी कई नयी प्रकार की संवेदनाओं से हो कर गुजरना पड़ रहा है। यदि वह भी इस दिशा में इन समस्याओं पर कुछ लिखें तो निश्चय ही हिन्दी को कुछ नई अनुभूतियाँ मिलेगी और उनके माध्यम से कुछ नई दिशाओं का भी निर्माण होगा।

इधर कई कहानी की पत्रिकाओं में एवं अन्यतम फुटकर लेखों में बार-बार 'नयी कहानी' और इससे सम्बन्धित अन्य प्रकार की चर्चाएँ उठायी गयी हैं। लेकिन ये चर्चाएँ चर्चाएँ ही है।

हिन्दी के नये कहानी-लेखकों में से कमलेश्वर, निर्मल कुमार, मोहन राकेश, मुद्राराक्षस, मार्कण्डेय, अमरकान्त, राजेन्द्र यादव, मन्नू भण्डारी आदि ने निश्चय ही हिन्दी की कहानी को नयी दिशाएँ दी हैं। यह नयी दिशाएँ उपलब्धियाँ नहीं अन्वेषण हैं। अन्वेपण की स्थिति मे ही उनसे नितान्त अन्तिम स्तर के सत्य की माँग करना या उन्हें मात्र अन्वेषण, जिज्ञासा न मान कर अन्तिम सत्य मान लेना भ्रामक है। कहानी उसी प्रकार नयी हो सकती है जिस प्रकार से कविता नयी कविता हो सकती है। यह नयापन अनुभूति के नये स्वरों के अन्वेपण में ही होता है। एक ही संवेदना को प्राय: हम कई प्रकार से भोगते हैं। अभी तक की कहानियों में जो इतिवृत्तात्मक शैली और फ़ार्मूला-प्रधान तत्त्वों का प्राचुर्य था, निश्चय ही उस उमस से निकल कर कहानी-कला आज कहीं अधिक व्यापक धरातल पर खड़ी है। कुछ दिनों आञ्चलिकता के नाम पर कुछ सड़े-गले साहित्य को अवश्य ठप्पा लगा कर चलाने की कोशिश की गयी थी लेकिन वह अधिक चल नहीं सकी।

कहानी का कथ्य और तथ्य दोनों ही बड़ी तेज़ी से आगे की ओर विकसित हो रहे हैं। सारिका, नई कहानियाँ, माया आदि पत्रिकाओं में आज अन्धेरे बन्द कमरों के जीवन से ले कर, बाहर धूप में, होटलों और सिनेमाघरों में, पिकनिक और अन्य स्थलों में जो जीवन दिया जाता है उसकी स्पष्ट झलक सर्वथा नये सन्दर्भों के साथ आज की कहानी में अङ्कित हो रही है। किन्तु ये कहानियाँ वस्तु-स्थिति की कटुता और स्वप्न-लोक की आदर्शवादिता की टकराहट का परिचय देती हैं

लेकिन कहानियों के सम्बन्ध में एक बात अवश्य कहनी है और वह यह कि इस नयी दिशा

के लक्ष्य में प्राय: जो केवल अनुकरण की प्रवृत्ति कुछ नये लेखकों में आती जा रही है वह अस्वस्थ है। कोई भी नयी शैली या नया भाव क्षेत्र जब कोई कुशल लेखक खोज कर सामने प्रस्तुत करता है तो उस शैली और वातावरण को ले कर उड़ जाने वाले अनेक नये लेखक सहसा दीख पड़ने लगते हैं। इस अनुकृति का दोष नयी कविता में भी है और नयी कहानी में भी। कोई भी नयापन कुछ रूढ़ व्यञ्जनाओं के माध्यम से ही व्यक्त नहीं किये जा सकते। उनके साथ अनुभूति का साक्षात्कार होना आवश्यक है। यदि अनगिनत पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने वाली कहानियों की संख्या देखी जाय तो लगता है सब से अधिक इसी विधा का प्रयोग किया जा रहा है, किन्तु जब उसी के साथ हम उनकी उपलब्धियों पर ध्यान देते हैं तो प्रकाशित होने वाली कहानियों की संख्या के अनुपात में हमें उपलब्धियाँ कम दीख पड़ती हैं। इसके विपरीत एक प्रकार के मैनरिज्म का प्रकोप हमें कुछ पीड़ा, ऊब और खीझ पैदा कर देता है। इसीलिए प्राय: बहुत-सी नयी शैलियों या नये भाव स्तर की संवेदनाओं के प्रति आशंका एवं अश्रद्धा की वाणी भी सुनने में आती है। किन्तु मात्र इसलिए कि वह वाणी बुरी तरह से फैल रही है कोई भी नयी शैली या नया भाव-तथ्य दबाया नहीं जा सकता। निश्चय ही इस नयी दिशा से कुछ सारगर्भित सत्यों को पाने में हम समर्थ होंगे।

हिन्दी-साहित्य में सब से बड़ा अभाव स्वस्थ और शिल्पसौष्ठव से सम्पन्न जीवनी-साहित्य का है। इस दिशा में हिन्दी-लेखकों ने ध्यान ही नहीं दिया। वह लेखक जो अनेक सृष्टियों का सृजन कर के अपने पाठकों को अनेक प्रकार की अनुभूतियों का साक्षात्कार कराता है, उसके व्यक्तिगत जीवन की झाँकी हमें प्राय: नहीं मिल पाती। जो प्रयास उस दिशा में हुए भी हैं उनमें वह निकटता नहीं मिलती जिसकी हम अपेक्षा करते हैं। बॉसवेल जैसे लेखक ने जॉनसन की जीवनी लिख कर उसे अंग्रेजी-साहित्य में अमर कर दिया है। जॉनसन के व्यक्तित्व, उसके आचार-विचार, उसके हाव-भाव, उसकी नितान्त व्यक्तिगत जीवन की कड़ियों में बंधा हुआ व्यक्तित्व जब हमें पढ़ने को मिलता है और उसके सांसारिक आचरण की अनेक अर्थपूर्ण स्थितियों का साक्षात्कार हम करते हैं तो शायद वह अपने ही में एक बड़ा महत्त्वपूर्ण अर्थ हमें दे जाता है। हिन्दी में यदि हमारे पास निराला, प्रसाद, प्रेमचन्द आदि की जीवनियाँ होतीं तो शायद हमारा साहित्य अधिक धनी होता।

१९६२ में हमें हिन्दी-साहित्य की इस दिशा की ओर कुछ प्रयास दीख पड़ता है। 'अश्क एक रंगीन व्यक्तित्व' उस प्रयास का परिचायक है। यद्यपि इस पुस्तक को हम जीवनी नहीं कह सकते, फिर भी उसकी संस्मरणात्मक शैली भी रुचिकर एवं मार्मिक है। 'अश्क' के व्यक्तित्व पर राजेन्द्र सिंह बेदी, कृष्णचन्द्र और ख्वाजा अहमद अब्बास ने बड़े सुन्दर और अनुभूतिपूर्ण शैली में इन संस्मरणों के माध्यम से प्रकाश डाला है। यदि यही पुस्तक कुछ और सावधानी से नियोजित की जाती तो निश्चय ही एक बहुत ही सुन्दर जीवनी हो सकती थी। वर्तमान स्थिति में यह केवल संस्मरणों का एक संग्रह मात्र बन कर रह गयी है।

लेकिन एक दूसरा प्रयास अमृत राय का उल्लेखनीय है। अमृत राय ने अपने पिता एवं हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में सर्वथा क्रान्ति उत्पन्न करने वाले मुंशी प्रेमचन्द के संघर्षपूर्ण जीवन को 'क़लम का सिपाही' के नाम से अङ्कित किया है। इस पुस्तक में अमृत राय ने बड़े कुशल ढङ्ग से अपनी

शैलीगत विशेषता के साथ प्रेमचन्द की जीवनी प्रस्तुत की है, किन्तु मुझे उसमे एक दोष खटका है और वह यह कि अमृतराय की शैली में मात्र तेवर के दर्शन अधिक होते हैं, एक निकटतम आत्मीय द्वारा वर्णित कथा या जीवनी की अनुभूति को केवल उभार कर अनुभूतिपूर्ण ढङ्ग से मन मे उतार देने वाली शैली का परिचय नहीं मिलता। यह बात मुझे खटकती है। मैं यह भी जानता हूँ कि यह बात अन्य कई पाठकों को नहीं खटकेगी। लेकिन यहाँ मैं एक स्पष्टीकरण करना चाहूँगा और वह यह कि यदि जीवनी पढ़ने में हमें उपन्यास का मजा आता है तो इसे मैं लेखक का दोष मानता हूँ, क्योंकि जीवनी को मुख्यतः जीवनी होनी चाहिए और उपन्यास को मुख्यतः उपन्यास के गुणों से सम्पन्न होना चाहिए। जीवनी में तथ्यात्मक दृष्टिकोण होना चाहिए। उपन्यास में केवल कल्पना एवं प्लाट की सफलता पर ध्यान रखना चाहिए। जो लोग इन दोनों क्षेत्रों को समान रूप से अलग-अलग कर के नहीं देख पाते या जो उनका अलग-अलग निर्वाह नहीं कर पाते, वे प्रायः उसके कला-पक्ष को गौण बना देते हैं। कोई भी साहित्यिक विधा अपने आन्तरिक गठन की प्रकृति के अनुसार कुछ माँगें प्रस्तुत करती है। पढ़ने में अच्छी लगे और उस विधा की प्रकृति का समर्थन न हो तो उसे रचना की कमज़ोरी ही मानना चाहिए। अमृत राय की लेखनी जहाँ इस कृति मे अपनी पूर्ण कुशलता के साथ पाठक को मुग्ध कर लेती है और उसे उपन्यास जैसा मजा आने लगता है वहीं मुझे लगता है, वह अपने लक्ष्य में और जीवनी-शिल्प के प्रति अपने दायित्व का निर्वाह नही कर पाये हैं।

फिर भी अमृत राय का यह प्रयास नितान्त मौलिक और सराहनीय है। इसमें सन्देह नही है कि किसी भी पुत्र के लिए अपने पिता के संस्मरण लिखना एक भावात्मक सङ्घर्ष की स्थिति उत्पन्न कर देता है। आत्मज होने के नाते उसे पिता के न जाने कितने आत्मीय और मर्मपूर्ण क्षणो की स्मृतियों को कुरेदना पड़ता है। भावों में गतिरोध की स्थिति पैदा हो सकती है। घटनाओ के चयन में अपेक्षित तटस्थता का अभाव भी अनुभव हो सकता है। कहीं-कहीं दुराग्रह के वशीभूत पिता-भक्त लेखक विधा की औपचारिकता का परित्याग कर के केवल संस्मरण सुनाने लग जा सकता है। जहाँ तक इन प्रत्याशित त्रुटियों का सम्बन्ध है, अमृत राय जी की कृति इनसे मुक्त है। यह कहीं भी नहीं लगता कि लेखक बलात् किसी भी स्थल पर अनचाहे ढङ्ग से पाठक के ऊपर कुछ लाद रहा है। वे प्रत्येक स्थिति में उस तटस्थता को बनाये रखने में सफल हुए हैं।

लेकिन यहीं पर एक दूसरा प्रश्न उठता है। इस तटस्थता को बनाये रखने के लिए अमृत राय जी ने जिस माध्यम का आश्रय लिया है वह माध्यम जीवनी का नहीं है। जीवनी मे अमृत राय के कथाकार का व्यक्तित्व अधिक तीव्रता से उभर कर आया है। जैसा कि कुछ लोगो का मत है, प्रेमचन्द की यह जीवनी उपन्यास लगती है। मैं समझता हूँ, यही दोष है। जीवनी को जीवनी लगनी चाहिए। जीवनी में जिस अनौपचारिकता की आवश्यकता है उसका होना आवश्यक है। अमृत राय जी उस अनौपचारिकता का निर्वाह नहीं कर पाये हैं। जहा 'अश्क: एक रंगीन व्यक्तित्व' में हमें जीवनी न मिल कर संस्मरण मिलता है वहीं 'क़लम का सिपाही' में हमें जीवनी उपन्यास शैली में मिलती है। यह लेखक की असफलता है।

जीवनी के अतिरिक्त प्रेमचन्द के अन्य अप्राप्य साहित्यिक कृतियों एवं पत्रादि का सङ्कलन कर के अमृत राय ने एक बहुत बड़ी क्षति की पूर्ति की है हमारे साहित्य म महान

साहित्यकारो के पत्र आदि के सङ्कलन की परम्परा अब भी नहीं बन पायी है लोग उन्हें संग्रहणीय भी नहीं मानते और न उस विधा के वैयक्तिक महत्व को ही समझते हैं प्रेमचन्द के पत्रों का सम्पादन कर के अमृत राय ने हमें प्रेमचन्द के व्यक्तित्व के उस अंग से परिचित कराया है जिससे उनके निर्मल, स्वच्छ एवं नितान्त 'बेतकल्लुफ' प्रकृति का परिचय मिलता है। आठ खण्डो मे प्रकाशित उनके पत्रों और अप्राप्य ग्रन्थों का यह संग्रह प्रेमचन्द-साहित्य की एक बहुत बड़ी कमी की पूर्ति करता है।

नाटक का क्षेत्र हिन्दी साहित्य का सबसे अधिक कमजोर पक्ष है। अभिनय नाटकों की इतनी भारी कमी है कि नाट्य-संस्थाओ के सामने कोई चारा ही नहीं रह जाता। प्रायः अच्छे नाटको की खोज में नाट्य-संस्थाओं को भटकना पड़ता है। ऐसी स्थिति में कम से कम ऐसे नाटक-लेखकों का दायित्व, जिनका सम्बन्ध अभिनय से भी है, बढ़ जाता है। कहा जाता है कि नाटककार रङ्गमञ्च से सम्बन्धित हो कर अच्छे अभिनेय नाटक दे सकता है। बड़े-बड़े सिद्धान्तवादियो ने भी इसका समर्थन किया है किन्तु आज जब ऐसे नाटककार हमारे बीच हैं जो कि नाट्य-संस्थाएँ भी चलाते है और उनकी कृति भी उतनी सफल नहीं होती तो थोड़ा दुख होता है। डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल उन्हीं में से एक हैं। जब उनका सम्बन्ध किसी रङ्गमञ्च से नहीं था, तब तो उनकी कृतित्व का स्तर 'अन्धा कुआँ' था जिसमें ड्रामा नहीं तो कम से कम मेलोड्रामा तो था ही किन्तु जब से उनका सम्बन्ध रङ्गमञ्च से हो गया है तब से ड्रामा ने कृत्रिम रूप 'मेलोड्रामा का भी तत्त्व उनके हाथ से निकल गया है। इधर की उनकी कृतियों में रात रानी, रक्तकमल प्रकाशन के साथ-साथ मञ्च पर भी प्रस्तुत किये गये हैं। नाटकों की रचना स्वतन्त्र रूप से देखने पर और मञ्च पर देखने पर समान भाव पैदा करते हैं। ऐसा लगता है मञ्च पर चमत्कार पैदा करने की चेष्टा में पाठ्य नाटक की भी रोचकता वह नही निभा पाये है। रक्त कमल में महज शोर-ओ-गुल है, रातरानी में बनावटी आदर्श और कृत्रिम यथार्थ को मिला कर नाटकीयता पैदा करने की चेष्टा की गयी है। दोनों ही स्तर पर न तो कुशल नाटककार का परिचय मिलता है और न कुशल मञ्च तत्त्वों से भिज्ञ निर्देशक का। कुल मिला कर ऐसा लगता है कि डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल केवल एक प्रकार की 'अराजकता' का पोषण करते हैं जिसमें न तो नाटकीयता हाथ लगता है और न दृश्य गुण ही मिल पाता है।

नरेश मेहता की 'खण्डित यात्राएँ' का प्रकाशन १९६१ में ही हुआ है। लगता है नरेश मेहता के अन्दर एक अच्छा और अधिक परिपक्व नाटककार है जो अभी मञ्च की प्रस्तुति और उसकी सीमाओं से परचित नहीं हो पाया है। उनकी प्रथम 'सुबह के घण्टे' कृति जब मैंने पढ़ी थी तो लगा था कि यह पाठ्य-नाटक में कुछ नये मोड़ देने में समर्थ होंगे किन्तु खण्डित यात्राएँ पढने के बाद मुझे यह भी लगा कि यह मञ्च के अनुरूप भी नाटक लिख सकते हैं। किन्तु हिन्दी नाटककार की सब से बड़ी कमी है कि वह कोरी भावुकता को ही नाटक समझने लगता है। नाटक जब 'लिखित-शब्द जाल' में पड़ जाता है तो न तो अच्छी कविता ही रहता है और न नाटक। वह दोनों की भीड़ में पिस जाता है। नरेश मेहता के साथ भी यही दोष है। 'खण्डित यात्राओं' मे यदि वह थोड़ा-सा तटस्थ हो कर लेखक का मोह त्याग कर नाटक का मंचगत दायित्व भी सम्हालते तो शायद एक सफल हो सकते थे

शील के भी तीन नाटकों 'तीन दिन, तीन घर', 'हवा का रुख' 'किसान' का उल्लेख १९६२ के प्रकाशनों में महत्त्वपूर्ण है। शील को निश्चय ही नाटक के मञ्चीय संस्करण का ज्ञान है। लेकिन इनके नाटकों में तीन दोष है। पहला तो यह कि उनका तथागत 'नाराबाज' व्यक्तित्व उन्हें परास्त कर देता है और वह नाटक की नाटकीयता के स्वाभाविक विकास का गला घोंट देता है। दूसरे शील की चेष्टा नाटक और सिनेमा को साथ सम्बद्ध करने का होता है। इस भ्रम में हिन्दी के कई नाटककार पड़े हैं और प्रायः सभी नाट्य-तत्त्व के मञ्चगत प्रस्तुतीकरण की हत्या कर देते हैं। सिनेमा और नाटक को एक दम निकट लाने का प्रयास या यह भ्रम कि नाटक को सदैव ऐसा लगना चाहिए जैसे वह सिनेमा हो नितान्त ग़लत और भ्रामक है। 'थियेट्रिकल' गुण और 'स्क्रीन गुण' दोनों अलग-अलग विधाओं और शिल्पों की अलग-अलग उपलब्धियाँ हैं। दोनों विधाओं को मिलाना शास्त्रोचित भी नहीं है। शील के प्रायः सभी नाटक इसी दुविधा में पड़ कर समाप्त हो गये हैं। उनकी विशिष्टता तो नष्ट हो ही गयी है, साथ ही नाटककार की दृष्टि भी सङ्कीर्ण हो गयी है। तीसरी बात जो शील के नाटको मे स्पष्टतः दीखती है वह है आलेखहीनता। इसका कारण है पृथ्वी थियेटर्स का प्रभाव पृथ्वीराज कपूर ने एक प्रकार से देखा जाय तो अभिनय और आलेख में जो सन्तुलन होना चाहिए उसको नष्ट कर दिया है। आलेख कल्पनाहीन से लगते हैं। यही कारण है कि शील के भी नाटकों में यह कल्पनाहीनता हमें स्पष्ट दीख पड़ती है।

डॉ० सत्यव्रत सिन्हा द्वारा अनूदित 'मृच्छकटिकम्' का आधुनिक मञ्च के उपयुक्त सक्षिप्त संस्करण 'मिट्टी के गाड़ी' के नाम से प्रकाशित हुआ है। संस्कृत नाटकों की अपनी सीमाएँ और उपलब्धियाँ होती है। आज शायद आधुनिक मञ्च की परम्परा में उनको प्रस्तुत करना एक श्रमसाध्य प्रयास है। किन्तु हिन्दी नाट्य-परम्परा संस्कृत नाट्य-परम्परा की प्रतीकात्मकता और व्यञ्जनात्मकता की अवहेलना भी नहीं कर सकता। नाटक मुख्यतः जिस भ्रम (illusion) को प्रस्तुत करता है उसमें प्रतीकात्मक और व्यञ्जनात्मक तत्त्वों का होना आवश्यक है, क्योंकि जब तक कल्पना का आधार नहीं लिया जायगा तब तक नाटक का व्यञ्जनार्थ पूरा नही होगा। डॉ० सत्यव्रत सिन्हा का प्रस्तुत नाटक या अनुवाद इस दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। त्रुटि केवल एक है और वह यह कि कथोपकथन की शैली में कहीं-कहीं प्राचीन सम्बोधन-परम्परा का अनुसरण कर के उन्होंने एक ग़लत प्रकार का प्रभाव डाला है। इसके अतिरिक्त प्राय अनुवाद का संक्षिप्तीकरण एवं अनुवाद दोनों ही सफल बन पड़े है।

काव्य की दृष्टि से १९६२ का वर्ष अस्तित्वहीन-सा लगता है। ऐसा लगता है कि आधुनिक युग के समस्त व्यग्यों में सबसे अधिक हत्या काव्यगत भावनाओं एवं कल्पनाओं की हुई है। नयी कविता का वेग, जो पिछले दस वर्षो से एक ज्वार के रूप में ऊपर उठ रहा था, जैसे धीरे-धीरे पीछे खिसक रहा है। यद्यपि सैकड़ों कविताएँ अनेक पत्र-पत्रिकाओं मे बराबर प्रकाशित होती रहती है किन्तु सब मिला कर जो प्रभाव पड़ता है वह यह कि कविता आज केवल अपने अभिव्यक्ति के माध्यमों और सूत्रों को दुहरा रही है। अपनी इस पुनरावृत्ति की प्रक्रिया में उसमें बासीपन आ गया है। इस दृष्टि से देखने पर दो परिणाम स्पष्ट दीख पड़ते हैं—पहला यह कि या तो नयी कविता के उफान का युग समाप्त हो गया अब यह गहरे पठ

कर कुछ गम्भीर उपलब्धियों का प्रस्तुत करने म सलग्न है दूसरा यह कि जितना कुछ नया कविता के माध्यम से नवीनतम रूप मे आ सकता था आ गया अब आप कवि या तो रिक्त हो गय है या अपने को दोहरा रहे हैं। बात जो भी हो, किसी भी कला-विधा की कोई भी धारा जब एक प्रकार के सन्नाटे के वातावरण मे आ जाती है तो इतना तो स्पष्ट ही हो जाता है कि विधा की तीव्रतम शक्ति अब नष्ट हो गयी है। लगता है, उसकी कला मे अब दृष्टिहीनता आ रही है।

इस दृष्टि से देखने पर जितने भी सङ्कलन इधर प्रकाशित हुए है, उनका महत्त्व नही रह जाता। अनुभूति के स्तर वही हैं, शब्द वही हैं, प्रारूप भी वही हैं, लेकिन किसी भी कला-कृति में जो विशिष्ट परिप्रेक्ष्य होता है, उसकी पकड़ इनमे छूट गयी है। यही कारण है कि काव्य की चेतना में सहसा गतिहीनता-सी लगती है। नयी विधा के शिल्पियों में शमशेर और नरेश की कृतियाँ इधर आयी हैं। शमशेर की कविताओं का सङ्कलन 'कुछ और कविताएँ' इस दृष्टि से बहुत निराश करता है। यदि शमशेर की समस्त प्रयोगशील उपलब्धि यही है तो फिर हमे उनकी कृतियों के बारे मे पुनर्मूल्याङ्कन करना होगा। सम्पूर्ण सङ्कलन में कवि का मोह ही अधिक लक्षित हुआ है, कृतित्व कम।

नरेश मेहता का एक खण्ड काव्य जैसा रूपक 'संशय की एक रात' युद्ध प्रारम्भ होने के पूर्व राम जैसे व्यक्तित्व की मानसिक स्थिति को चित्रित करता है। राम के इस नवीन सस्करण को देखकर यदि मैथलीशरण के शब्दों में कहा जाय—'राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है, कोई कवि बन जाय सहज सम्भाव्य है," तो शायद यह अनुचित न होगी। नरेश ने राम मे जो आरोपित सत्य देखने की चेष्टा की है उसमें नियमबद्धता या व्यक्तित्व की दृढ़ता तो कम है, युद्ध और शान्ति की बकवास अधिक। गीता मे जो मोह अर्जुन को व्याप्त हुआ था उसकी सार्थकता शायद कृष्ण के कर्मयोग द्वारा स्थापित हुई है। किन्तु राम के मन में जो संशय उपजा हुआ दिखलाया गया है उसमें विक्षुब्ध नपुंसक की शान्ति है, मर्यादापुरुषोत्तम की सङ्कल्पशक्ति और नरेश के राम के संशय में बहुत कुछ वह शान्ति है जो इतनी विवेकहीन, निष्प्राण और पाण्डु है जितनी कि तथाकथित रूस और चीन की शान्ति जिसके पीछे मानवीय भावना कम अमानवीयता अधिक है। करुणा की अपेक्षा दया और विवेक की अपेक्षा भावुकता नरेश की इस रचना में अधिक उभर कर प्रस्तुत हुई है। इसके दो कारण है—पहला तो यह कि राम जैसे पौराणिक प्रतीक-चरित्र के माध्यम से बीसवीं शताब्दी की शान्ति और युद्ध की समस्या कभी भी सुलझायी नही जा सकती। राम का व्यक्तित्व स्वयं एक रूढ़ि के रूप मे हमारी मानसिक विचार-धारा से सम्बद्ध है। राम का जो भी विम्ब हमारे दिमाग में है, उसका आकार इतनी जल्दी नहीं मिटाया जा सकता। केवल व्यंग्य ही एक ऐसा माध्यम हो सकता था जिसमें दो विभिन्न चेतनाओं के सम्मुख होने से कोई नया अर्थ पैदा किया जा सकता था। नरेश जी ने उस सम्भावना के ऊपर ध्यान न दे कर राम को इस युग का प्रतीक बना कर वह सब संशय भी उनके व्यक्तित्व में भर दिया है जो आज भी प्राय: सबके मन में समान रूप से ही है—ऐसा नहीं कहा जा सकता।

शान्ति का तथाकथित वक्तव्य या युद्ध की निन्दा एक बात है, किन्तु एक विशेष प्रकार की पुंस्त्वहीनता के माध्यम से शान्ति की बात करना या युद्ध की चर्चा करना दूसरी बात है .दि शान्ति एक नतिक है तो हिरोशीमा के ज्वलन्त उदाहरण को ले कर

क्यो नहीं लिखा जाता और यदि शान्ति केवल प्लेटोटयूड है तो फिर उसे राम पर भी आरोपित करने से कोई बात नही बनती।

काव्य-सङ्कलनों में एक सर्वथा नये कवि रवीन्द्र नाथ त्यागी की कविताओं का एक सङ्कलन 'सूखे हरे पत्ते' इधर आया है। त्यागी के इस सङ्कलन में हमें एक प्रयास मिलता है। प्रयास भी कुछ प्रयोग और भावुकता को एक साथ एक स्तर पर लाने का। इसीलिए सङ्कलन मे कहीं-कहीं तो हमें अत्यन्त नये शीर्षकों के माध्यम से नितान्त नैतिक जीवन की घटित अनुभूतियो का चित्रण या फिर नितान्त भावुकतापूर्ण कथ्य का नितान्त छायावादी भावभङ्गिमा के साथ समर्थन मिलता है। कवि खुल कर न तो प्रयोगशीलता को अपना पा रहा है और न परम्परागत काव्य को ही अपना पा रहा है। एक ओर उसमें भावनाओं और अनुभूतियों का मेला जैसा लगा है और दूसरी ओर उसकी अभिव्यक्ति में कहीं वह विद्रोहात्मक स्वर काव्य से छूट जाता है जिसके आधार पर वह अनुभूतियों की नयी अभिव्यक्ति को सफलता के साथ व्यक्त कर सकते थे। बात जो भी हो, रवीन्द्रनाथ त्यागी के प्रस्तुत सङ्कलन से एक बात स्पष्ट हो जाती है ओर वह यह कि यदि उनका कवि अपनी इस दुविधा का त्याग कर दे तो सम्भव है भविष्य में उनकी रचनाओं में हमे एक नयी चेष्टा और एक प्रकार का नया आनन्द मिले। ऐसा लगता है कि अनुभूति के कई नये आयाम उनके समक्ष स्पष्ट हैं किन्तु केवल दुविधा के कारण वह उनको व्यक्त नहीं कर पा रहे हैं।

पुराने कवियों में बच्चन का नवीनतम सङ्कलन 'चार खेमे चौंसठ खूंटे' के शीर्षक में आया है। पुस्तक की भूमिका में कवि के आश्च होने से लेकर जो कुछ मन में आये, उसे कह देने को वह मूल्य मानते हैं। बच्चन स्वभावतः अधिक लिखते हैं। अनुभूतियों के अद्वितीय होने में जो कला की नितान्त ताजगी या उसका आकर्षण होता है, हम प्रायः उसे बच्चन की कविताओं में नही पाते। 'निशा-निमन्त्रण' और 'एकान्त सङ्गीत में' बच्चन के जिस कवि व्यक्तित्व के प्रति थोड़ी आस्था बढी थी, वह दिन-प्रतिदिन एक शब्दाडम्बर, बिखराव, असंयम और नितान्त अराजकता के रूप मे ही हमें देखने को मिली है। 'चार खेमें चौसठ खूंटे' उसी परम्परा की कृत्रिम कडी है। भूमिका में कवि ने काव्यशास्त्र से लेकर लघु-मानव तक के साथ मजाक के लहजे में कुछ कहना चाहा है किन्तु न तो वह कथ्य व्यंग्य ही बन पाया है और न शिकवा-शिकायत। बात आकर यहाँ समाप्त होती है कि छोड़िये आप काव्यशास्त्र को, लघु मानव को, आप कविता लिखते है तो फिर आइये आपकी कविताएँ ही देखें। किन्तु सबसे बडा व्यंग्य तब मालूम होता है जब न तो भूमिका कविताओं की पुष्टि करती है और न कविता भूमिका की पुष्टि करती है। ऐसा लगता है, जैसे कवि के मन में एक उमड़ने की अकुलाहट है और उस अकुलाहट में एक मर्म को भी खो देने की बात। यदि मात्र अकुलाहट ही व्यक्त हो जाती, या अकुलाहट की असफलता, तब भी कुछ न कुछ बात बन जाती। यहाँ तो केवल चीख-पुकार है, हर करवट में कुछ नया कहने का साहस है. लेकिन लगता है जैसे पूँजी कुछ नहीं है, केवल ताम-झाम शेष बचा है।

डब्ल्यू० बी० यीट्स के ऊपर शोध-कार्य करने के बाद और प्रतीकवादी फ्रेञ्च कवियों की जानकारी से लेकर लन्दन में रहने के बाद भी यदि बच्चन की समझ में यह बात नहीं आती कि सटीक Precis on का क्या मूल्य है तो शायद यह हिन्दी भाषा का दुर्भाग्य है उनका नहीं

बच्चन की इधर की अधिकांश रचनाएं केवल शब्द समूह हैं, न तो उसमें काव्य है और न रिटारिक, न तो वक्तव्य और न काव्य। वे मात्र सब कवि की मनोभावना है—ऐसे कवि की जिसने कविता लिखना छोड़ दिया है, केवल कविता का रियाज़ ही कर रहा है। यदि इस दृष्टि से देखा जाय तो बच्चन का यह नवीनतम काव्य-संग्रह, काव्य के किसी भी रूप की पूर्ति करता हुआ नहीं दीख पड़ता।

बच्चन के इस संग्रह के साथ ही नरेश के काव्य-संग्रह की भी याद आ जाती है—'बोलने दो चीड़ को'। यद्यपि यह सही है कि इस सम्पूर्ण संग्रह में कहीं भी ऐसा नहीं लगता कि कवि कहीं भी सर्वथा नयी और अछूती अनुभूतियों के स्तर को छू रहा है, फिर भी इस संग्रह की अधिकांश कविताएँ अच्छी और संवेदनशील बन पड़ी हैं। केवल वही कविताएँ कमजोर और अस्थिर हैं जिनमें जान-बूझ कर या अनजान में कवि ने पौराणिक प्रतीकों और बिम्बों को लेकर कोई बात कहनी चाही है। पौराणिक प्रतीकों की अपनी सीमाएँ होती हैं। प्रेषणीयता का अधिकांश वह ठस बना देती है। नरेश की सब से बड़ी कमजोरी है कि वह वेदों और पुराणों वाली भाषा से मुक्ति नहीं पा सके हैं।

काव्य के क्षेत्र में यह शिथिलता शायद भाव-भूमि की नीरसता या संदिग्धता के कारण ही रही है। जितना कुछ प्राप्य है, भोग्य है, जब उसकी सार्थकता जीवन की नितान्त मर्मपूर्ण संवेदनाओं को छूने में असमर्थ होता है या जब अभिव्यक्ति के सभी माध्यम केवल रूढ़ि रूप में व्यञ्जित होते हैं, तब सम्पूर्ण रचना और प्रेषणीयता में एक प्रकार का बासीपन आ जाता है। शायद नयी कविता के साथ भी यही घटना घटित हो रही है।

आलोचना, हिन्दी-साहित्य का एक दूसरा पक्ष है जिसमें तीन-चार कोटि की रचनाएँ लिखी जाती हैं। कुछ तो केवल विद्यार्थियों के लिये लिखी जाती हैं जिनमें जितनी रूढ़िवादिता सम्भव हो सकती है उतनी ठूँस-ठूँस कर भर दी जाती है। शायद ऐसा इसलिये होता है कि परीक्षा को दृष्टि में रखते हुए आलोचक केवल उन्हीं तथ्यों को स्वीकार करता है जो सर्वमान्य होती हैं। जिसमें मतभेद होता है उन्हें वह इसलिये नहीं छूता कि उसमें अप्रिय होने की सम्भावना रहती है। यद्यपि सिद्धान्ततः यह बात गलत है, फिर भी विद्यार्थियों के लिये पुस्तक लिखते समय कोई भी आलोचक अपनी मौलिकता को सशक्त रूप में रखने का साहस नहीं करता।

दूसरे प्रकार के आलोचना-ग्रन्थ यूनिवर्सिटी की थीसिस होती हैं। ये थीसिसें भी प्रायः दो प्रकार की होती हैं। एक तो मात्र शोध को प्रधानता देती है और दूसरी विचारों को। शोध वाले ग्रन्थों में कभी-कभी-अनर्गल रूप से वर्गीकरण और विभाजन की बात होती है। अनावश्यक रूप में कभी-कभी मात्र वर्गीकरण और सतही व्याख्याएँ मिलती हैं जिनका न तो विचारों के विकास से और न भाव-भूमि के विवेचन या चेतना के स्फुरणों के मूल्यांकन से ही कोई सम्बन्ध होता है। मिसाल के लिये यदि शोध का विषय है, 'हिन्दी उपन्यासों में नायकों के प्रकार' तो इसका वर्गीकरण इस प्रकार भी किया जा सकता है—मजदूर नायक, किसान नायक, आफ़िसर नायक, क्लर्क नायक इत्यादि। हिन्दी शोधकार्य प्रायः इसी प्रकार के सतही विभाजनों को लेकर चल रहा है। परिणाम इसका यह हुआ है कि शोध-ग्रन्थ आपको अनेक मिलेंगे 'लेकिन ठण्डी विद्वत्ता कोल्ड एकेडमिक' के नाम पर बहुत कुछ ऐसा मिलेगा जो सारहीन और तत्त्वहीन

भी दिखेगा। जाने क्या बात है, आज के विचारक में एक प्रकार की 'मीडियाक्रिटी कोल्ड एकेडेमिक्स' के नाम पर इतनी अधिक चल पड़ी है कि उसके सामने कोई नयी दिशा निर्मित ही नही हो पाती। यह गुण-विशेषता पाठ-शोध आदि जैसे कामो में तो सहायक हो जाती है किन्तु विचारो के क्षेत्र में तथाकथित तटस्थता कभी-कभी मूढ़ता का परिचय देती है। दो विचारधाराएँ है, उनमें से दोनों के विश्लेषण-विवेचन और मूल्यांकन में तटस्थता की दृष्टि रखी जा सकती है किन्तु दोनों के विवेचन के बाद निष्कर्ष की स्वाभाविक परिणति से कतराना हिन्दी शोध की प्रकृति बन गई है। परिणाम यह है कि किसी भी शोध-ग्रन्थ को उठा कर देखने पर परिप्रेक्ष्यहीनता सब से पहले दीख पड़ती है। जब विचारक या शोधक इस भय से आक्रान्त हो जाता है कि कही उसे कोई पक्षपाती न कह दे तो, वह प्रायः मीडियाक्रिटी (Mediocrity) का परिचय देता है। विश्लेपण और निष्कर्ष, किसी भी शोध कार्य के दो मुख्य अङ्ग हैं। विश्लेपण की तटस्थता एक बात है, किन्तु उस विश्लेपण के आधार पर उपलब्ध सत्यों का निष्कर्ष एवं समर्थन करने में, तटस्थता के भयवश (fear complex) के कारण बात ही न कही जाय—कृत्रिमता है।

तीसरे प्रकार के आलोचना-ग्रन्थ उन रचनाप्रधान लेखकों के होते हैं जिनमें केवल व्यक्तिगत रचना-प्रक्रिया के आधार पर या अपने मत की पुष्टि के लिये ग्रन्थ लिखे जाते हैं। शेली की 'इनडिफ़ेन्स आव पोयट्री' या वर्ड्सवर्थ की भूमिका या ईलियेट का 'कण्ड उड' आदि ग्रन्थ भले ही तथाकथित 'कोल्ड एकेडेमिक्स' के आदर्श की पूर्ति न करे जिनमें मीडियाक्रिटी पलती है, किन्तु इस बात में सन्देह नहीं किया जा सकता कि विचारों को प्रसारित करने में, या उनको परिप्रेक्ष्य प्रदान करने में उनके पास एक अद्वितीय क्षमता होती है। वस्तुतः ऐसी ही कृतियाँ मूल्यवान् भी होती हैं।

जहाँ तक हिन्दी के आलोचना-साहित्य का सम्बन्ध है, पाठ्यग्रन्थ की कोटि के आलोचना-ग्रन्थ तो फ़सल के समान उगते हैं और उनके लेखक भी अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग स्तर पर अपने-अपने शक्ति वैभव के आधार पर लिखते रहते हैं—चाहे वह 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' लिखें या छायावाद का विलेश्पण करें। वह दो बातों की क़सम खाये बैठे रहते हैं—पहली बात तो यह कि वह कोई भी मौलिक बात नहीं कहेंगे और दूसरे, वह हर प्रकार से इस बात का परिचय देंगे कि वह किसी भी रूप मे नये नहीं है। इसलिये उनके विषय में लिखना या उनकी गिनती गिनाना भी मैं उचित नहीं समझता। बरसाती किताबों की संज्ञा देना ही पर्याप्त है।

शोध-ग्रन्थों में १९६१ में कुछ पुस्तकें अच्छी निकली है और कुछ अपने अनर्गल प्रलाप मे दबी हुई बोझिल लगती हैं। किन्तु जो अच्छी हैं, उनकी सार्थकता अभी बन नहीं पाई है। इस दृष्टि से अच्छे शोध-ग्रन्थों में और मौलिक खोजों के आधार पर मित्र प्रकाशन द्वारा प्रकाशित 'सूफी कवियों के प्रेमाख्यानक-काव्य' पर डॉ० श्याममनोहर पाण्डेय की थीसिस उल्लेखनीय हे। पूरी थीसिस को पढ़ने के उपरान्त ऐसा लगता है, किसी भी स्थापना के विश्लेषण और उनसे निष्कर्ष निकालने में लेखक में तर्कबुद्धि और निर्भीकता का समान प्रमाण मिलता है। प्रेमाख्यानक-काव्य पर यों तो बहुत कुछ लिखा जा चुका है, किन्तु श्याममनोहर पाण्डेय का प्रस्तुत शोध-कार्य समस्त मतो के विश्लेषण के साथ-साथ प्रायः समस्त मतों का मूल्यांकन करते हुए अपना निष्कर्ष देने मे समर्थ हुआ है इस कोटि की कोई अन्य थीसिस १९६१ मे नही प्रकाशित हो सकी

इसी प्रकार का दूसरा महत्वपूर्ण शोध कार्य श्री अमरबहादुर सिंह अमरेश का कहरा नामा और मसला नामा है। इसमें जायसी के दो नये ग्रंथों का मूल्यांकन प्राप्त प्रतिलिपियों के आधार पर है। लेखक द्वारा किये गये प्राप्त प्रतिलिपियों का सैद्धान्तिक विवेचन, पाठभेदों का सचयन विश्लेषण और तर्क-सम्मत निर्णयों की दृष्टि से इस छोटी-सी पुस्तक का बड़ा महत्त्व है।

'पाठ-सम्पादन के सिद्धान्त' नामक ग्रन्थ के रचयिता श्री कन्हैया सिंह का मौलिक ग्रन्थ भी उल्लेखनीय है। यद्यपि यह कोई सम्मान-प्राप्त थीसिस नहीं है फिर भी स्वतन्त्र रूप से लिखे गये इस ग्रन्थ में पाठ-संशोधन, उनके निर्णय और उनके विषयों पर वैज्ञानिक दृष्टि से प्रकाश डाला गया है।

डॉ० माताप्रसाद गुप्त का 'रासो साहित्य-विमर्श' भी पाठालोचन के आधार पर रासो के पाठान्तरों के आधार पर एक महत्वपूर्ण शोध-कार्य है। वस्तुतः केवल वैज्ञानिक आधार पर इस प्रकार के कुछ कार्य और होने चाहिये। डॉ० गुप्त ने इस दिशा में जो कार्य किये हैं, वह हिन्दी के लिये बहुत महत्त्वपूर्ण है। हिन्दी का अधिकांश प्राचीन साहित्य, विभिन्न हस्तलिपियों मे ही उपलब्ध है। उन हस्तलिपियों में लेखकों की अभिरुचि और उनकी लिपि के कारण, भेदों का उत्पन्न होना भी स्वाभाविक है। इस दृष्टि से, वैज्ञानिक आधार पर उन ग्रन्थों का प्रामाणिक पाठ शोधन करना भी आवश्यक है। रासो साहित्य के अन्य पक्षों पर प्रकाश डालते हुए उसके इस अंश की क्षतिपूर्ति करना भी आवश्यक था। डॉ० गुप्त की यह कृति इस दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है।

प्रयाग विश्वविद्यालय के प्राध्यापक डॉ० पारसनाथ तिवारी की थीसिस 'कबीर-ग्रन्थावली' एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। ग्रंथ का प्रारूप, पाठ-भेद एवं अन्य भेदों के आधार पर ग्रन्थावली को शुद्ध रूप में सम्पादित करके डॉ० तिवारी ने इस परम्परा में एक प्रशंसनीय काम किया है। कबीर-साहित्य की सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि उसकी सम्पूर्ण परम्परा ही मौखिक रही है। ऐसी दशा मे उसका प्रामाणिक पाठ-प्रारूप प्रस्तुत करने में भी काफ़ी कठिनाई है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० रामकुमार वर्मा, पं० रामचन्द्र शुक्ल आदि ने विचार, दर्शन और पाठ आदि के सम्बन्ध मे जितना भी कार्य किया है उससे इस सम्पादन और विश्लेषण में सहायता अवश्य ली गई है, किन्तु यह भी सत्य है कि इन समस्त सुविधाओं के बावजूद श्री तिवारी का कार्य कठिन रहा है।

डॉ० निर्मला सक्सेना की डी० फ़िल्० की थीसिस 'सूर-सागर शब्दावली' भी इस वर्ष का महत्त्वपूर्ण प्रकाशन है। मन्दिर-पूजा-गीत (Temple Lyrics) और मन्दिर-पूजा-नृत्य (Temple Dance) ठीक उसी प्रकार सम्प्रदाय, परम्परा और धर्मसिद्ध रहे हैं जैसे मन्दिर का सङ्गीत (Temple Music) रहा है। सूरदास और मीराबाई के गीतों का सम्बन्ध मन्दिर की पूजा-विधि का एक अङ्ग है। स्वभावतः शब्द-चयन और उनके अर्थ-सन्दर्भों का गूढ़ अर्थ तभी समझा जा सकता है जबकि उनके शब्दों के संस्कार को समझ लिया जाय। डॉ० निर्मला सक्सेना की यह थीसिस प्रस्तुत सन्दर्भ में विशेष महत्त्व रखती है। संस्कृति के प्रायः समस्त उपादानों की दृष्टिगत विवेचना और उनके माध्यम से सम्पूर्ण सूर-साहित्य की व्यापकता के अध्ययन में ऐसे ग्रन्थों से विशेष सहायता मिलेगी।

किर की थीसिस मे सागर स्वीकृत चार शोध-ग्रन्थो का

उल्लेख करना आवश्यक है प्रथम ग्र थ तो आधुनिक हि दी कविता पर है इस ग्र थ मे आधुनिक तम काव्य प्रवृत्तियो पर एक विवेचनात्मक रूप मे अध्ययन करने का चण्टा की गई है। ग्रन्थ का प्रयास जहाँ सराहनीय है, वहाँ सहानुभूत्यात्मक दृष्टि के अभाव में, आधुनिक हिन्दी काव्य में व्याप्त विभिन्न आन्दोलनों या विचार-सम्बन्धी काव्य एवम् दृष्टिकोण-सम्बन्धी नवीनता को ग्रहण करने का प्रयास न करने से, यद्यपि इसमें नवीनतम प्रवृत्तियों को भी सम्मिलित कर लिया गया है किन्तु उनके विवेचन में न तो कोई गहराई आ पाई है और न इन प्रवृत्तियों के विश्लेपण में मूल्यगत अथवा भावगत स्थितियों के वोध को कोई आधार ही मिल पाया है।

आधुनिक काव्यशिल्प से सम्बन्धित दूसरा शोध-ग्रन्थ 'नया हिन्दी काव्य' है जिसके प्रणेता है डॉ० शिवप्रकाश मिश्र। शिल्प में परिवर्तन या एक प्रकार की अभिव्यक्ति-विधि क्यों नष्ट हो जाती है, क्यों दूसरी जन्म लेती है, अथवा सर्वथा बेढङ्गा लगने वाले कथ्य की क्या अनिवार्यता होती है, इसे सतही रूप मे देखकर टाला नहीं जा सकता। तथ्य के भाव-स्तर के साथ कथा के शिल्प-विधि की अनिवार्यता होती है। कभी-कभी एक प्रकार की व्यञ्जना इतनी शिथिल और रूढ़ि हो जाती है कि उसमें कोई भी नयी व्यञ्जना या नया भाव-स्तर पिरोया ही नहीं जा सकता। इस दृष्टि से जब उपर्युक्त ग्रन्थ को देखते हैं तो लगता है, इतने बड़े शोध-ग्रन्थ में मूल बात को पकड़े बिना ही जबर्दस्ती लिखने का प्रयास किया गया है। ऐसा लगता है, शिल्प से सम्बन्धित व्यक्तित्व, दृष्टि एव तथ्य की प्रकृति पर लेखक ने विचार ही नहीं किया है।[१७]

हिन्दी समीक्षा के रूपों पर डॉ० वेङ्कट शर्मा की पुस्तक 'आधुनिक हिन्दी साहित्य मे समालोचना का विकास' उल्लेखनीय है। समीक्षा के रूप, जीवन के, साहित्य के, और व्यापार के रूप को प्रतिबिम्बित करते हैं। प्रस्तुत पुस्तक में इस दृष्टि मे साहित्यिकता के स्तर पर साहित्य की धड़कनों का अनुभव होगा। साहित्य का विश्लेषण वस्तुतः विचार, दर्शन और मूल्यों का विश्लेषण है। जैसे काव्य हमारे स्वप्न, हमारी कल्पना, हमारी आ।ांक्षा की भावात्मक अभिव्यक्ति है, उसी प्रकार हमारी समीक्षा, हमारी चिन्ता, हमारे व्यवहार को व्यक्त करती है। प्रस्तुत पुस्तक में समीक्षा के इन प्रारूपो को समझने मे कुछ भी सहायता नही मिलती। भापा और अभिव्यक्ति के बीच लहज़ा, मिज़ाज, मूड आदि की व्यञ्जनायें होती है। हिन्दी समीक्षा के रूपों का विवाद जो इस पुस्तक मे दिया गया है, वह अधूरा है। वस्तुतः इस पर भविष्य में बड़ी गहराई के साथ अध्ययन करने की आवश्यकता है।

नाट्य सम्बन्धी आलोचना-ग्रन्थों का भी अभाव हमारे साहित्य में पर्याप्त है। इस दृष्टि, से श्री श्रीपत राय के 'आधुनिक नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव' नामक आलोचना-ग्रन्थ से यह आशा की जाती थी कि वह हिन्दी नाटकों के शिल्प और साहित्य पर गम्भीर अध्ययन प्रस्तुत करने में सफल होगा, किन्तु इस दिशा में भी कोई महत्त्वपूर्ण प्रयास नहीं किया गया है। पुस्तक को पढ़ने से ऐसा लगता है कि आधुनिकतम समस्याओ को न तो गहराई से समझा गया है और न उनकी सापेक्षता में नाटक-लेखकों और मञ्च-व्यवस्थापकों के सामने जो समस्याएँ हैं, उन पर ही प्रकाश डाला गया है। हिन्दी के लेखकों में प्रायः विवेचन या मूल्यांकन प्रस्तुत करते समय अन्यथा रूप में शिथिलता दीख पड़ती है के साथ यदि यही पुस्तक लिखी जाती और इस विशिष्ट-विधा की

सम्भावनाए और हमारी परम्पराओ का विश्लेषण किया जाता तो बहुत-सी समस्याओ का निराकरण हो सकता था नाटक का विकास हमारे सामाजिक जीवन के विकास पर आधारित है। आज की स्थिति में जो संक्रमण है, वह तीव्रगति-गामी जीवन का और भारतीय चिन्तन की है। इसके बीच जो आस्थायें टूट रही है, जो विश्वास विकसित हो रहे हैं और जो नये आचारों-विचारों की मर्यादा बन रही है, उसका विश्लेषण और उनके आधार पर आज की नाट्य-कृतियों का मूल्यांकन नितान्त आवश्यक है।

कहानी के विषय और उसके विकास सम्बन्धी विषय पर डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल की हिन्दी कहानी की शिल्पविधि सम्बन्धी नवीनतम पुस्तक हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर द्वारा प्रकाशित होकर आई है। यद्यपि डाक्टर लाल की पुरानी थीसिस मे सतही विवेचना, शिल्प का विश्लेषण और कथ्य-तथ्य में परिप्रेक्ष्यहीनता पहले ही से व्याप्त थी, साधारण पाठक या विशेष पाठकों को आशा यह थी कि भविष्य में डाक्टर लक्ष्मीनारायण लाल इस पर कुछ अधिक गम्भीर पुस्तक लिखेंगे, किन्तु इस नवीनतम आलोचना-ग्रन्थ में भी वही त्रुटियाँ वैसी ही विद्यमान हैं। ऐसा लगता है कि हिन्दी के विद्वान्-आलोचकों में अभी विश्लेषण करने की गहरी पकड़ आई ही नहीं है। कहीं-कहीं ऐसा लगता है कि किसी विशिष्ट लेखक के विषय में जानबूझकर अधिक कहा जा रहा है और कतिपय कहानी-लेखकों को उनकी उपलब्धि से अधिक महत्त्व दिया गया है। डॉ० लाल की यह पुस्तक न तो विवेचना के स्तर पर और न विश्लेषण के अध्ययन पर उतनी सफल हो सकी है जितना कि इस से अपेक्षित था।

इन पुस्तकों के बावजूद नितान्त क्रियाशील रचनाकार के विचारों के रूप में श्री भगवती चरण वर्मा की नवीनतम कृति 'साहित्य की मान्यताएँ' अभी-अभी हिन्दुस्तानी एकेडमी से प्रकाशित हुई हैं। आशा थी कि इस पुस्तक में भगवती बाबू जैसे प्रौढ़ लेखक के विचार अधिक सन्तुलित और परिपक्व रूप में प्राप्त होंगे, किन्तु पूरी पुस्तक को पढ़ जाने के बाद ऐसा लगा जैसे इस पुस्तक का नाम 'साहित्य की मान्यताएँ' न होकर यदि 'मेरी साहित्य की मान्यताएँ' होता तो शायद अनेक समस्याएँ जो मेरे दिमाग में उठी, वह न उठतीं। भगवती बाबू ने इस पुस्तक में कुछ मूलभूत समस्याएँ उठानी चाहीं हैं जिनका समाधान साहित्य-शास्त्र में हो चुका है। लगता है, इस पुस्तक को लिखने में उन्होंने आत्मा की आवाज ज्यादा सुनी है, तर्क, विवेक और शास्त्र की आवाज़ उनके कानों तक पहुँची ही नहीं। कुछ अद्भुत सूचियों और प्लेटीट्यूड्स को इकट्ठा कर देने से साहित्यिक मान्यतायें नहीं बनेंगी। साहित्यिक मान्यताएँ बनती हैं अनुभूति से, उसकी गहरी अन्तर्वेदना से। अनुभूति का क्षेत्र साधना है या भावबोध की प्रवणता है या मात्र मन की बहक है, इस पर कुछ भी कहना भगवती बाबू के लिये सम्भव है। 'चना जोर गरम' के लेख में और छन्द-बद्ध कविता में जातिगत-भेद वह नहीं मानते। वह दोनो को कविता मानते हैं। लटके को कृत्रिम कविता मानते हैं और छन्द को उच्च कविता। यह जो रूप की पहचान भगवती बाबू ने दी है, इससे हिन्दी साहित्य का कितना भला होगा, कहा नहीं जा सकता। किन्तु एक बात इससे बिल्कुल स्पष्ट हो गई और वह यह कि—हिन्दी के वयोवृद्ध लेखकों के पास यदि यही साहित्य शास्त्र था तो कह नहीं सकता उस शास्त्र की उपलब्धियों के विषय में, बिना कुछ कहे ही बातें स्पष्ट हो जाती हैं।

१९६२ का महत्व इस सन्दर्भ मे और भी अच्छा है कि इस वर्ष कई महत्त्वपूर्ण अप्राप्य

पुस्तकों का पुनर्मुद्रण हुआ है। ब्रजरत्नदास का 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र', श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय की 'निबन्धनी', विश्वम्भर 'मानव' का 'महादेवी वर्मा', जिसमें से महत्त्वपूर्ण हैं। श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय एवं मानव जी की पुस्तकों के नये संस्करणों में काफ़ी परिवर्तन एवं संशोधन भी मौजूद हैं।

श्रीमती महादेवी की 'नीहार', 'सान्ध्यगीत' और 'रश्मि' के भी नये संस्करण प्रस्तुत हो चुके है। १९६२ की उपलब्धियों में इन पुस्तकों का अलग-अलग प्रकाशित होना, इस अंश में महत्वपूर्ण है कि उनका सम्पूर्ण संस्करण 'यामा' के रूप में प्रत्येक व्यक्ति के सामर्थ्य के बाहर था। 'दीपशिखा' का भी इसी प्रकार सस्ता संस्करण बहुत महत्त्वपूर्ण है।

भारतीय ज्ञानपीठ से शान्ति मेहरोत्रा और अजितकुमार के संकलन 'खुला आकाश मेरे पाँव' और 'अङ्कित होने दो' कई अर्थों में महत्त्वपूर्ण है। शान्ति मेहरोत्रा के संग्रह मे उनकी कुछ कविताएँ नितान्त सुन्दर बन पड़ी हैं। ठीक इसी प्रकार उनकी कहानियाँ नवीनतम काव्य-बोध की परिचायिका हैं। घरेलू-हास्य और व्यंग्य की ये कृतियाँ कहीं-कहीं इतनी मार्मिक और संवेदनापूर्ण हो गई हैं कि उनको पढ़कर एक विशेष प्रकार का आनन्द मिलता है। शान्ति जी के सङ्कलन में केवल लघुकथायें और कुछ गीत हैं कमज़ोर, लेकिन शेष कृतियों की अच्छाई मे वह खलती नहीं।

अजित के सङ्कलन 'अङ्कित होने दो' में कविताओं और कहानियों की अपेक्षा उनकी डायरी बड़ी महत्वपूर्ण है। अजितकुमार के डायरी के पृष्ठों में उनके भावुक और तटस्थ अन्तर्मन का बड़ा सुन्दर चित्रण मिलता है। कविताएँ भी उतनी ही सरल किन्तु मर्मपूर्ण भावो से ओत-प्रोत हैं।

सांस्कृतिक क्षेत्र में १९६२ कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण रहा है। रङ्गमञ्च, चित्रकला एव इसी प्रकार के अन्य आयोजनों में यह वर्ष विशेष दिशाओं के निर्माण में अग्रसर रहा है। दिल्ली मे कई महत्वपूर्ण चित्रकला-प्रदर्शनियाँ आयोजित की गई। प्रयाग में डॉ० जगदीश गुप्त डॉक्टर विपिन कुमार अग्रवाल एवं लक्ष्मीकान्त वर्मा के चित्रों का प्रदर्शन हुआ। इस चित्रकला-प्रदर्शनी का महत्त्व इस अर्थ में विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि ये तीनों चित्रकार नये कवि है और काव्य एवं कला के क्षेत्र में नये भाव-बोध के प्रतिनिधि कहे जाते हैं। प्रयोग और नई सीमाओं एवम् माध्यमों को जागरूक रूप से ग्रहण करने के पक्ष में हैं। इसी के बाद ही श्री जी० सी० पाण्डेय के भी चित्रों का प्रदर्शन हुआ एवं प्रोफ़ेसर आर० एन० देव के चित्रों का प्रदर्शन सिनेट हाल यूनिवर्सिटी, में आयोजित किया गया। श्रीपत राय के चित्रों की प्रदर्शनी दिल्ली में की गई।

प्रयाग में एक साथ इतने प्रदर्शन और इतने चित्रकारों का होना महत्वपूर्ण है। प्रयाग, कला और संस्कृति का केन्द्र होते हुए भी राजनीतिक चक्करों के कारण, इतनी प्रतिभाओं के बावजूद भी प्रायः उपेक्षित रहा है। यहाँ न तो कोई भी आर्ट गैलेरी है और न चित्र-प्रदर्शनियों की कोई सुविधा ही है। होटलों, पार्कों या तम्बू-क़नातों में ही प्रदर्शन होते हैं। कभी-कभी इनका प्रदर्शन यूनिवर्सिटी के बड़ हाल मे भी हो जाता है किन्तु ऐसा करने से चित्रों का उचित परिप्रेक्षण और नष्ट हो जाता है उचित दूरी प्रकाश और अन्य सुविधाओं के अभाव मे हमे

रङ्ग के विभिन्न शेडस रेखाओ का चमत्कार एव उनका उचित मिश्रण दिखलाई नही पडता। रेखाओ का सन्तुलन एवम चित्र के विभिन्न आयामो का औचित्य भी नही प्राप्त हो पाता जिस नगर में हिन्दुस्तानी एकेडेमी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन जैसी संस्थाएं हों, वहा एक आर्ट गैलेरी का न होना खटकता ही नहीं, कुछ हद तक अपमानजनक भी मालूम पड़ता है।

जहाँ तक नई दिशाओं के अन्वेषण का प्रश्न है, डॉ० विपिन अग्रवाल, डॉ० जगदीश गुप्त एव श्रीपत राय ने निश्चित ही उस दिशा में प्रयत्न किया है। डा० विपिन अग्रवाल के अधिकाश अमूर्तन शैली के चित्र निश्चय ही विशेष महत्त्व के है। चित्रों के आन्तरिक गढ़न में नई व्यञ्जना-विन्यास का परिचय तो मिलता ही है, साथ ही टेक्स्चर और रङ्गों के मिलावट में भी उनका उपयोग सराहनीय है। प्रयाग के अधिकांश चित्रकारों की मुख्य प्रकृति अमूर्तन की ही ओर है। इधर डॉ० जगदीश गुप्त के कुछ पेस्टल के प्रयोग भी उनकी नई शैली के परिचायक है। यद्यपि उनकी रेखाओं और रङ्गों के संयोजन में अब भी कुछ 'सेण्टीमेण्टल' भाव-व्यञ्जना उभरकर आ जाती है। फिर भी सहसा इतिवृत्तात्मक शैली से अमूर्तन शैली की ओर डॉ० जगदीश गुप्त का आना स्वय मे एक महत्वपूर्ण कदम है। प्रयाग के अन्य चित्रकारो में अभी एक प्रकार का भटकाव है। उनकी शैली में परिमार्जित स्थिरता और तटस्थ रङ्गों के संयोजन, उस सौन्दर्य-सर्जन का प्रभाव नही छोड पाते जो कि चित्रों के प्रयास में झलकते है। श्रीपत राय ने बहुत कुछ पाश्चात्य चित्रकारो एव उनकी शैलियों से प्रभाव ग्रहण किया है। कहीं-कहीं वह 'रोमेण्टिक' अभिव्यक्ति का भी परिचय देते हैं, किन्तु इनके बावजूद भी उनके प्रयास को हम नितान्त पुनरावृत्ति की शैली नही कह सकते। उनके प्रयास में भी हमें एक ताजगी मिलती है किन्तु वह किसी भी प्रकार से भारतीय नही हो पाता। यहाँ जब मैं भारतीय कहता हूँ तो उसका अर्थ सङ्कीर्णतावादी सन्दर्भ से नहीं है। भारतीय से मेरा तात्पर्य मात्र इतना है कि भारतीय वातावरण, देश और काल की अपेक्षा पाश्चात्य वातावरण और काल का प्रभाव श्रीपत राय मे अधिक है। मिसाल के लिये हिमपात, या कुहरा कुहासा का वातावरण यदि भारतीय चित्रकारों में अधिक आता है, तो स्पष्ट है कि उसके टोन हमारे संस्कार में उतने नहीं बैठते। साथ ही दृष्टि और जीवन की सार्थकता का भी अंश उसमे उभर कर नही आ सकता।

कला के क्षेत्र में, जहाँ ललित कला अकादमी केवल वर्ष में एक बार चित्र-प्रदर्शनी आयोजित करके शान्त हो जाती है, वहाँ देश में बराबर चित्र प्रदर्शनियों के होते रहने से कला के आन्दोलन को बल मिलता है। साहित्य सम्बन्धी विषयों में डा० जगदीश गुप्त द्वारा लिखी गई पुस्तक 'भारतीय कला के पदचिह्न' आदि ऐसे सन्दर्भ-ग्रन्थ है जिसमें हमारी चेतना को जागरूक होने की प्रेरणा मिलती रहती है। इस कार्य को अधिक कुशलतापूर्वक ललित कला अकादमी को करना चाहिये था, लेकिन वह शायद इस दिशा में अब भी संकल्पनिष्ठ नहीं हो पाई है।

नाटक एवम् रङ्गमञ्च के सम्बन्ध में भी कुछ कहना आवश्यक है। हिन्दी जगत् में नाटक और रङ्गमञ्च, दोनों ही दुर्बल पड़ते हैं। ऐसी दशा में हिन्दी के लेखकों और मञ्च-व्यवस्थापकों का दायित्व अधिक बढ़ गया है। निश्चय ही, आन्दोलन के रूप में मञ्च का पुनरुद्धार केवल अमेचर मञ्च ही कर सकता है। इस बात को दृष्टि में रखते हुए दिल्ली- लखनऊ- वाराणसी आदि में नाट्य-सस्थाए स्थापित भी हुई और काय कर भी रही है प्रयाग मे इन नगरो की अपेक्षा कुछ अधिक

प्रतिपत्तिका

प्रतिपत्तिका के अन्तर्गत हम नियमित रूप से
अपने लेखकों का सामयिक टिप्पणियाँ,
शोधोपयोगी सूचनाएँ और तत्सम्बन्धी सामग्रियों का परिचय,
नवान्वेषित कृतिकारों का या कृतियों का परिचय
तथा नयी सैद्धान्तिक प्रस्थापनाएँ प्रकाशित करते हैं।
यह कार्य सुदुष्कर अवश्य है,
किन्तु हम कला, संस्कृति एवं साहित्य के हर अध्येता एवं अन्वेषी से
इस क्षेत्र में पूर्ण सहयोग की अपेक्षा रखते है।

एक

स्वर और व्यञ्जन का सम्बन्ध

सरस्वतीसरन 'कैफ़'

समस्त संसार के ध्वनिशास्त्रियों ने, जिनमें प्राचीन भारतीय व्याकरणाचार्य भी शामिल है, स्वर की परिभाषा करते हुए उनकी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित की है, यानी यह कहा है कि व्यञ्जनों की सहायता के बिना—स्वतन्त्र रूप से—उनका उच्चारण किया जा सकता है। साथ ही यह भी प्रतिपादित किया गया है कि व्यञ्जनों का उच्चारण स्वर की सहायता ही से हो सकता है। मुझे इन दोनों बातों की सत्यता में सन्देह है।

पहले स्वरों और व्यञ्जनों का अन्तर समझ लिया जाये। आधुनिक ध्वनिशास्त्रियों के अनुसार फेफड़ों से बाहर निकलने वाली वायु का जब मुँह या गले के किसी हिस्से में पूर्ण अथवा आंशिक अवरोध होता है तो व्यञ्जनों की उत्पत्ति होती है और जब इस वायु का अवरोध नहीं होता बल्कि वह मुख विवर की विभिन्न के अनुसार विशेष प्रकार की गूंज देती हुई

निकलती है, तो स्वरो की उत्पत्ति होती है . अर्थात् व्यञ्जनो की विशेषता मुह या गले के किसी हिस्से में बाहर निकलनेवाली वायु का पूर्ण या आंशिक अवरोध है। अवरोध की विभिन्न अवस्थाओ के आधार पर व्यञ्जनों को स्पर्शी, अनुनासिक, लुण्ठित, सङ्घर्षी और पार्श्विक वर्गों में बाँटा गया है।

अब यह देखना चाहिये कि क्या व्यञ्जन वास्तव में स्वरों के अधीन होते हैं। निस्सन्देह अधिकतर व्यञ्जनों का उच्चारण उनके पश्चवर्ती स्वरों की सहायता से होता है, लेकिन संसार की प्रत्येक भाषा में कुछ व्यञ्जन स्वरों की सहायता के बगैर भी बोले जाते हैं। हिन्दी ही में देखिये--- 'प्रकार' का 'प', 'वस्त्र' का 'स' और 'त' और 'ब्रह्म' का 'ब' और 'ह' स्वरों से बिलकुल स्वतन्त्र है। चुनाँचे यह स्थापना ग़लत साबित हो जाती है कि व्यञ्जन स्वरों की सहायता के बग़ैर नहीं बोले जा सकते।

अब स्वरों की स्वतन्त्र सत्ता की बात की छानवीन भी कीजिये। अधिकतर स्वर भी व्यञ्जनों के साथ आते हैं, जैसे 'कोट' का 'ओ'। किन्तु बहुत से स्वर इस तरह के भी होते हैं जिन्हे किसी परिचित व्यञ्जन की सहायता के बग़ैर बोला जाता है जैसे 'आलू' का 'आ'। किन्तु वास्तविकता यह है कि ऐसे स्वर भी एक ऐसे व्यञ्जन के पश्चवर्ती होते हैं जिसे ध्वनिशास्त्रियो ने माना तो है किन्तु जिसके महत्त्व पर ध्यान बिल्कुल नही दिया है। यह व्यञ्जन वही है जिसे उन्नीसवीं शताब्दी के ध्वनिशास्त्रियों स्वीट, वेल आदि ने **काकलीय अवरोध** (Glottal Stop) की संज्ञा दी थी। यह ध्यान रखना चाहिए कि उन्नीसवीं शताब्दी के अंग्रेज ध्वनिशास्त्री स्पर्शी व्यञ्जनों के लिए आज की तरह 'Plosive' शब्द का नहीं बल्कि (Stop) शब्द का प्रयोग करते थे। इसीलिए (Glottal Stop) को आज की परिभाषा में **'काकलीय स्फोट'** कहा जा सकता है।

'आ' 'ओ' 'ए' आदि बोलते समय यदि हम ध्यान दें तो मालूम होगा कि स्वरों की ध्वनि निकलने के पहले कण्ठ में एक अत्यन्त क्षीण स्फोट होता है। होता यह है कि काकल (स्वर-यन्त्र) के ऊपर लगे हुए दो स्वर-तन्तु (vocal chords) पहले एक दूसरे से इतने जोर से सट जाते है कि बाहर निकलने वाली हवा का पूर्ण अवरोध हो जाता है और फिर यह अवरोध झटके के साथ समाप्त होता है और यद्यपि स्वर-तन्तु बिल्कुल अलग नहीं होते (जैसे साधारण, श्वास-प्रक्रिया मे अलग रहते हैं) वे ढिलाई के साथ जुड़े रहते हैं जिससे हवा उनके बीच से जोर लगाकर निकलती है और उनकी थरथराहट से घोष (voice) पैदा होता है जो स्वरों की आधार-भूमि है। उपयुक्त काकलीय अवरोध की अनुपस्थिति में यदि स्वर पैदा किये जाते है तो वे 'ह' ध्वनि (जो काकलीय सङ्घर्षी ध्वनि है) के साथ निकलते हैं, यानी ऐसी अवस्था में हम 'आम' की बजाय 'हाम' कहेगे। काकलीय अवरोध एक पूर्ण अवरोध होने के कारण स्पर्शी व्यञ्जनों की श्रेणी में आ जाता है और ध्वनिशास्त्र के अनुसार इसे स्वतन्त्र स्थान मिलना चाहिये।

जैसा पहले कहा जा चुका है, किसी आधुनिक ध्वनिशास्त्री ने इसके अस्तित्व से इनकार नही किया है। हिन्दी के ध्वनिशास्त्रियों डॉ० बाबूराम सक्सेना आदि ने इस ध्वनितत्त्व के अस्तित्व को स्वीकार किया है, किन्तु इसके महत्त्व पर ध्यान नहीं दिया है। कारण केवल यह मालूम होता है कि पश्चिमी लिपियो ग्रीक लटिन और रूसी---मे इस के लिए कोई स्थान नही है और इसकी ८ उपयोगिता का पश्चिमी की दृष्टि मे कोई मूल्य नहीं है

वे 'cold' तथा 'old' दोनों के 'O' को एक ही ध्वनि समझते रहे हैं जब कि 'old' के 'O' के पहले काकलीय स्फोट होता है और 'cold' के 'O' में ऐसा नहीं होता।

आश्चर्य की बात तो यह है कि पूर्वीय ध्वनिशास्त्रियों के ध्यान में भी यह बात नहीं आयी, यद्यपि नागरी और फ़ारसी दोनों लिपियों में तथाकथित स्वतन्त्र और सव्यञ्जन स्वरों का अन्तर स्पष्ट है। नागरीलिपि का 'अ' इसी काकलीय स्फोट का प्रतीक है और मात्राएं स्वरों की अभिव्यक्ति करती हैं। कुछ स्थितियों में ('इ', 'ई', 'उ', 'ऊ', 'ए' तथा 'ऐ' में) 'अ' का प्रयोग नहीं होता (यद्यपि राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति इन अवसरों पर भी 'अ' में इच्छित मात्रा लगाने के पक्ष में है और मेरी समझ में ध्वनिशास्त्रीय दृष्टि से उसकी शैली प्रचलित शैली से अधिक वैज्ञानिक है); फिर भी इन 'स्वतन्त्र' स्वरों की मात्राएँ भी उनसे अलग हैं। इस प्रकार देवनागरी लिपि में प्रचलित व्यञ्जनों के साथ व्यवहृत और तथाकथित स्वतन्त्र स्वरों के लेखन में अन्तर स्पष्ट कर दिया गया है। फ़ारसी (अरबी) लिपि में इस ध्वनि को और अधिक स्पष्ट किया गया है। शब्द के आरम्भ में 'अलिफ़' और मध्य में 'हमजा' से इसे व्यक्त किया जाता है। अंग्रेजी में 'अ' के लिए भी 'a' का प्रयोग किया जाता है और नागरी तथा फ़ारसी के क्रमशः हलन्त-रहित और 'सकून' चिह्न-रहित व्यञ्जनों में निहित स्वर के स्पष्टीकरण के लिए भी 'a' लिखा जाता है। यह ध्वनिशास्त्रीय दृष्टि से भ्रमोत्पादक है और इस मामले में पूर्वीय लिपियां पश्चिमी लिपियों से अधिक वैज्ञानिक हैं।

काकलीय स्फोट को व्यञ्जन के रूप में स्वीकार कर लेने पर स्वरों की तथाकथित स्वतन्त्रता की बात खत्म हो जाती है, क्योंकि अब प्रत्येक दशा में स्वर किसी न किसी व्यञ्जन का पश्चवर्ती होकर ही प्रकट हो सकता है। इसलिए मेरे विचार में व्यञ्जनों और स्वरों की परिभाषाएँ निम्नलिखित रूप में की जानी चाहिये :—

व्यञ्जन वह ध्वनितत्व है जो मुख या कण्ठ के किसी भाग में पूर्ण या आंशिक वायु-अवरोध के कारण पैदा होता है। यह सघोष भी हो सकता है और अघोष भी, अल्पप्राण भी हो सकता है और महाप्राण भी। इसका उच्चारण [illegible] भी हो सकता है यद्यपि ऐसी अवस्था में यह उतना स्पष्ट नहीं होता जितना स्वर के साथ बोले जाने पर।

स्वर वह ध्वनि तत्व है जो मुख-विवर की विभिन्न [illegible] में वायु के प्रवाह और फलस्वरूप पैदा होने वाली विभिन्न गूंजों से बनते हैं। ये सदैव सघोष और अल्पप्राण होते हैं और किसी व्यञ्जन के पश्चवर्ती के रूप में प्रकट हो सकते हैं।

उक्त परिभाषाओं को मान लेने पर यूनानी वैयाकरणों द्वारा व्यञ्जनों की अपेक्षा स्वरों को दी गयी प्रमुखता (जिसकी नकल बाद में सारी दुनिया के वैयाकरणों ने की है) समाप्त हो जाती है। प्राचीन सामी लिपियों में केवल व्यञ्जनों पर ही ध्यान दिया गया था और स्वरों की उपेक्षा ही कर दी गयी थी, जैसा अरबी, फ़ारसी, हिब्रू, सीरियक और पहलवी लिपियों में अब भी देखा जाता है। यह प्रवृत्ति वैज्ञानिक दृष्टि से गलत होते हुए भी स्वाभाविक है। मानवीय वाणी का आधार व्यञ्जन ही है; तथाकथित स्वतन्त्र स्वरों की भी अपनी हैसियत पशुओं की बोलियों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है किन्तु व्यञ्जनों के अलङ्करण और पूर्णता के लिए उनका उपयोग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और सभ्य संसार यूनानियों की इस देन को कभी नहीं भुला सकता कि उन्होंने

पहला बार स्वरा के नियमित प्रयोग की व्यवस्था लिपि के अन्दर कर दी। फिर भी इसका यह मतलब नहीं है कि स्वरों की ही प्रमुखता मान ली जाये। पश्चिमी ध्वनिशास्त्रियों के लिये, जो कि शुरू से ही यूनानी लिपि से विकसित लैटिन लिपि के वातावरण में पले हैं, ऐसा सोचना स्वाभाविक हो सकता है, किन्तु पूर्वी देशों के ध्वनिशास्त्रियों के लिये इस प्रवृत्ति का कोई औचित्य नहीं है।

मैं आशा करता हूँ कि ध्वनिशास्त्री उपर्युक्त समस्या पर समुचित प्रकाश डालेंगे।

दो

•

काश्मीरी मसल (कहावत) और उनमें प्रयुक्त तद्भव शब्द

•

हरिहरप्रसाद गुप्त

(१) **ब्रअर सिज ताले शुख़स छेनान रज**—अर्थात् ब्रअर (बिल्ली) के भाग्य से छींके की रज्जु टूटना।

ब्रअर—सं **बिडाल** से सम्बन्धित है। बिडाल का विकसित रूप **बिलार** अवधी में प्रचलित है। गुजराती में बिलाडी आता है। पर मराठी में 'बिडाल' का विकास नहीं मिलता, वहाँ सं० **मार्जार** का विकसित रूप **माँजर** प्रचलित है।

शुख़स—छींका सं० **शिक्यं**, **शिक्या** का विकसित रूप है। व्रज में **छींका** तथा अवधी और भोजपुरी में **सिकहर** का प्रयोग होता है। रामपुर (खड़ीबोली का क्षेत्र) में छींका ही प्रयुक्त होता है।

रज—यह वैदिक शब्द **रज्जु** से सम्बन्धित है। यजुर्वेद ३०।७ में रज्जु बनाने के व्यवसाय का वर्णन है और रस्सी बनाने वाले को रज्जुसर्ज कहा गया है। कश्मीरी में गाय बाँधने की रस्सी को **रजहकुर** कहा जाता है। अवध में **लजुरी** पानी भरने की रस्सी को कहते हैं।

२) **गअन वुढान इन्द्र कतान** गणिका या वेश्या बुढ्ढी होने पर इन्द्र यन्त्र

सकता है कि वदिककाल मे चरखे के लिए यन्त्र ही प्रयक्त होता रहा होगा कर्ता बनाई वदिक सभ्यता मे भी है पुरातत्त्व एव इतिहास के लिए इन्द्र शब्द का बड़ा महत्त्व ह

कतान—'इन्द्र कतान' पदबन्ध चरखा कातने की पूरी रूपरेखा को समुपस्थित करती है। यह कतान हिन्दी का **कातना** ही है जो सं० **कर्त्तन** प्रा० **कत्तन** से विकसित है। सूत कातनेवाली को आज भी **कत्तिन** कहा जाता है।

(३) **मूलस द्रोत पअत्रन सग**—अर्थात् मूल (जड) के लिए द्रोत (दराँती) और पत्ते के लिए सिंचाई।

मूलस—यहाँ सं० मूल ज्यों का त्यों प्रयुक्त हुआ है। मूल भी वैदिक शब्द है। जो फसलें यथा मूँग, माध आदि समूल उखाड़कर सुखायी जाती थीं, उन्हें पाणिनि-काल में 'मूल्य' कहा जाता था।

द्रोत—यह वैदिक शब्द **दात्र** से सम्बन्धित है। यास्क के अनुसार उदीच्य देश में जो **दात्र** था, वही प्राच्य देश में **दाति** कहलाता था—**दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु दात्रमुदीच्येषु**। यह 'दात्र' ही खड़ीबोली-क्षेत्र रामपुर में दराँत है।

पअत्रन—यह तो सं० **पत्रटी** है। वैसे कश्मीरी में इसका एक रूप वथर भी है **पनवथर** पर्ण-पत्र।

(४) **पिलिय न त चोकिय गअम**—अर्थात् पहुँचा नहीं, तो खट्टे होंगे।

चोकिय—यह सं० **चुक्र** से सम्बन्धित है। सं० में **चुक्र-फल** इमली को कहा गया है। ब्रज मे चूक अब भी खट्टे के अर्थ में प्रचलित है। बहुत खट्टे के लिए चूक खट्टा कहा जाता है। सं० मे **चुक्राम्ल** प्रयोग में आता है। चरक में चुक्र का प्रयोग बराबर मिलता है।

(५) **ओन् क्याह जानि प्रोज बत्त क्याह गव**—अर्थात् अन्धा क्या जाने उज्ज्वल भात कैसा होता है।

बत्त—सं० **भक्त** का ही रूप है। कश्मीरी में भ का उच्चारण ब ही है। यह **भक्त** हिन्दी मे **भात** है। पाणिनि-काल में **भक्त** शब्द का प्रचार बराबर मिलता है। भोजन पर काम करने वाले मजदूर 'भाक्त' कहलाते थे। काशिका में **भाक्तः** शालिः आया है।

(६) **अखा गोमुल हीर, बीर मँगाव टङ्ग**—अर्थात् एक कोई हुआ मूर्ख जिसने बीर वृक्ष (इसमें फल नहीं होते) से टङ्ग (=नासपाती) माँगी।

टङ्ग—चरक ने **टङ्क** का प्रयोग फलों के प्रकरण में किया है। यही **टङ्क** (नाख या नाशपाती) टङ्ग है।

(७) **कोकर सिंद लत्य छुन मरान पूत**—अर्थात् कुक्कुट के लात से पूत (मुर्गे का बच्चा या छोटा मुर्गा) नहीं मरता।

कोकर—सं० **कुक्कुट** से सम्बन्धित हैं। मराठी में **कोंबड़ा** प्रयोग मे आता है।

(८) **गाव विवान, वोछ न च्यवान**—अर्थात् गाय देती है पर बछड़ा नहीं पीता है।

गाव—वै० सं० **गो** से विकसित है।

वोछ—सं० वत्स का विकसित रूप है।

(९) **सह पूत गव सह पूतय पञ्ज पूत गव पञ्ज** —— अर्थात् सिंह का पूत सिंह-पुत्र ही है और बन्दर का पूत बन्दर का पूत है

सह---सं० सिंह से सम्बन्धित है।

पञ्ज---सं० प्लवग, प्लवङ्ग से सम्बन्धित है।

(१०) सेजि उङ्गजि छुन ग्यव खसान---अर्थात् सीधी अँगुली से घृत नहीं निकलता।

ग्यव---सं० घृत से सम्बन्धित है। कश्मीरी में घ ध्वनि नहीं है।

(११) रगि-रगि छु खून पकान, वति-वति छु पोनि---अर्थात् रग-रग में खून चलता है और रास्ते-रास्ते पर ही पानी।

वति---सं० वर्तनी रास्ता से सम्बन्धित है।

पोनि---सं० पानीय से सम्बन्धित है।

(१२) अल कुलिस गव तुलकुल---अर्थात् अल (=कद्दू) तूत का पेड़ हो गया।

अल---वै० सं० अलाबु से सम्बन्धित है। इसी के विकसित रूप हि० लाउ, लौकी, लउआ है।

तुल---सं० तूद (तूत)।

(१३) सहन हुन्द मरुन शालन हुन्द शिकार---अर्थात् शेर का मरना, सियार का शिकार बना।

सहन---यह सं० सिंह का विकसित रूप है।

शालन---यह सं० शृगाल से सम्बन्धित है। गुजराती में इसका रूप शियाड़ तथा हिन्दी में सियार है।

(१४) ग्रोसिस न फारसी तगि मारुन वातिन---अर्थात् किसान को यदि फारसी आती हो तो मारना नहीं।

ग्रीस---यह सं० कृषक से सम्बन्धित है।

(१५) अन्दर छविहस थुक, नबर दोपनख गुम आय---अर्थात् अन्दर (किसी पर) थूक डाला गया, बाहर आ कर उसने कहा, यह तो पसीना आया है।

गुम---यह सं० घर्म से सम्बन्धित है।

(१६) नङ्गस नेन्द्र प्रङ्गस पेठ---अर्थात् नङ्गे को नींद पलँग के ऊपर है।

नङ्ग---यह सं० नग्न से सम्बन्धित है।

नेन्द्र---यह सं० निद्रा से विकसित है।

प्रङ्ग---यह सं० पर्यङ्क का विकसित रूप है।

(१७) हेंग आयस न त वच्छरिय छि---अर्थात् सींग नहीं आये तो (क्या) वह बछिया ही है।

हेंग---सं० शृङ्ग से सम्बद्ध है।

(१८) यूपिस शूप ढखअ---अर्थात् बाढ़ को सूप से ढँकना।

शूप---यह सं० शूर्प से विकसित है। हिन्दी में सूप, गुज० में शूपडुं तथा मराठी में सूप है।

(१९) दारो ! काय् फाट कुस, दोपनस, पननिअय पअन---अर्थात् हे दरवाजे, किसने (तुमको) फाड़ा वह बोला अपनी ही खूँटी या पाचर ने

दार---यह सं० द्वार का विकसित रूप है।

(२०) **हमञ्ज मलरिथ कअंस कलरिक**—अर्थात हाँजी (मल्लाह) मार कर और काँज उबाल कर (ठीक रहता है)।

कअँज या काँज—यह सं० काञ्जिक से विकसित रूप है। हिन्दी में यह काँजी है। काँज बनाने की प्रथा अब भी कश्मीर में प्रचलित है। चावल के माड़ को एकत्र कर इसे बनाते हैं। गुजराती में भी **काँज** प्रचलित है।

(२१) **अकिस दज़ान दअर, ब्याख कुशनावान अथअ**—अर्थात् एक की दाढ़ी जले, और दूसरा हाथ सेके।

अक—सं० एक से।

दज़ान—इसकी क्रिया दज़ुन (=जलना) है जो सं० दह् से विकसित है।

अथअ—यह सं० हस्त (=हाथ) से सम्बन्धित है।

(२२) **हायतस हे ओट आसिह, सुलि करिहे चोचि**—अर्थात् भालू के पास यदि आटा हो तो वह भी करता (बनाता) रोटियाँ।

ओट—हि० **आटा** और कश्मीरी ओट एक ही अर्थ रखते हैं। सं० में अर्द्द (=अन्न) आया है। कदाचित् ये इसी से विकसित हों।

(२३) **बान हतस दिजि ठान हत, ज्यव हतस क्याह् वालिज**—अर्थात् सौ बर्तनों को ढँका जा सकता है किन्तु सौ जीभों को क्या किया जाय।

बान—यह सं० भाण्ड से सम्बन्धित है। मराठी में भी भांडे का प्रयोग है।

हतस—यह सं० शत से सम्बन्धित है।

ज्यव—यह सं० जिह्वा से विकसित है।

(२४) **कायँन गुरुस गच्छुन**—अर्थात् पसलियों का (हँसते-हँसते) गोरस बन जाना।

गुरुस—यह सं० गोरस से सम्बन्धित है। चरक में दुग्ध तथा दुग्ध के अन्य रूपों के लिए 'गोरस' आया है। आगे चलकर इसका अर्थ मट्ठे के लिए सीमित हो गया। अवध में 'गोरस' मट्ठे के लिए प्रयुक्त होता है।

(२५) **छगिय मट बजान**—अर्थात् खाली घड़ा आवाज़ करता है।

मट—हिन्दी में **मटका, मेटी, मटुकी, माँट, मटुका** मिट्टी के पात्रों के नाम हैं। कश्मीरी **मट** इन शब्दों की प्राचीनता सिद्ध करता है। सम्भव है, ये मृद्-घट से सम्बन्धित हों।

(२६) **चुक ववख त्युथ लोनख**—अर्थात् जैसा बोवोगे वैसा काटोगे।

ववख—यह वै० सं० वप् (=बोना) से सम्बन्धित है।

लोनुख—यह वै० सं० लू (=काटना) से सम्बन्धित है।

(२७) **पनन्य जट वोखलस छनन्य**—अर्थात् अपना चीथड़ा ओखली में देना।

वोखलस: यह सं० उलूखल से सम्बन्धित है। हिन्दी में ओखली, मराठी में उखल तथा गुजराती में ऊखल है।

(२८) **जुव ओर तो जहान ओर**—अर्थात् शरीर आरोग्य या नीरोग है तो संसार ठीक है।

ओर—यह सं० आरोग्य का ही विकसित रूप है।

(२९) **ओहर कड़ुन**—अर्थात आहार ठीक करना।

ओहर—यह सं० आहार का ही रूप है

नये प्रकाशन

समीक्षकों की दृष्टि में

पिछली रात की बरफ

नरेश मेहता के
रेडियो नाटकों का संग्रह

प्रकाशक: हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई
पृष्ठ-संख्या : १५७
मूल्य : ४·००

जो लोग हिन्दी-नाटक एवं रङ्गमञ्च की गतिविधि से परिचित रहे हैं, उनके सामने यह बात लगभग एक तथ्य के रूप में स्पष्ट हो चली है कि हिन्दी में सक्रिय एवं सङ्गठित रङ्गमञ्च के अभाव में पिछले कुछ वर्षों की नाट्य-प्रगति का इतिहास मुख्यतः एक नवीन नाट्य-विधा के सूत्रपात तथा उत्तरोत्तर प्रगति का इतिहास रहा है जिसे हम 'रेडियो-नाटक' के रूप में जानते है। आज के अधिकांश मञ्चीय नाटक, या कम से कम मञ्चीय नाटक के रूप में प्रकाशित होनेवाले नाटक, पहले इन्हीं रेडियो-नाटकों के रूप मे लिखे जाते हैं—प्रस्तुत पुस्तक के लेखक की इस मान्यता से कदाचित् इनकार नहीं किया जा सकता। रेडियो भी रङ्गमञ्च के समान ही एक गम्भीर कला है, इस पर भी समझदार लोग कम ही आपत्ति करेंगे। इसके साथ ही यह भी मान लेना चाहिए कि नाटक ख्वाह वह रङ्गमञ्च के लिए लिखा गया हो या रेडियो के स्वरमञ्च के लिए, अपनी पूरी शक्ति और प्रभाव अपने उपयुक्त मञ्च पर ही प्रकट करता है; उसका वास्तविक रस-ग्रहण उसे 'देख कर' या 'सुन कर' ही हासिल किया जा सकता है, 'पढ़ कर' नहीं। इस सर्वसुलभ ज्ञान के बावजूद भी दूसरे देशों की तरह हमारे यहाँ भी इस प्रकार के नाटकों को प्रकाशित करने की परम्परा चली आ रही है। इस ग़लत या सही परम्परा को दृष्टि में रखें तो रेडियो-नाटकों का प्रकाशन भी कोई अद्भुत बात न लगनी चाहिए। मुझे भी यह कोई अद्भुत बात नहीं लगती। किन्तु एक प्रकाशित मञ्चीय नाटक के पढ़ने में और एक प्रकाशित रेडियो-नाटक के पढ़ने में कुछ तात्त्विक अन्तर है, इसका अनुभव श्री नरेश मेहता-कृत 'पिछली रात की बरफ' पढ़ कर ही हुआ। इससे मुझे यह भी लगा कि यह अन्तर दोनों विधाओं की जहाँ अपनी विशिष्टता के कारण है, वहीं यह कुछ ऐसे प्रश्नों की ओर भी इङ्गित करता है जिनका सम्बन्ध रेडियो-नाटकों के की
-प्रस यकता को ले कर है

अपने प्रकाशित रूप मे मञ्चीय नाटक और रेडियो-नाटक अपने-अपने मञ्चों पर अभिनीत होने वाले नाटकों की मात्र 'स्क्रिप्ट' नहीं हैं वरन् 'साहित्य' हैं ऐसा मान कर चलें तो दोनों को पढ़ कर रस-ग्रहण करने का वह तात्त्विक अन्तर समझ में आने लगेगा। मञ्चीय नाटक में व्यक्त अनुभव में एकसूत्रता होती है, उसके जड़-चेतन सभी उपकरण उस अनुभव को एक सम्पूर्णता की परिव्याप्ति प्रदान करते हैं जो कि रेडियो-नाटक के अनुभव-खण्डों को मिला कर उत्पन्न किये गये सूक्ष्म एवं अमूर्त सम्पूर्णता के प्रभाव से भिन्न होता है। मञ्चीय नाटक की उस एकसूत्रता का जितना भार संवाद तथा अभिनय वहन करते हैं उतना ही मञ्च-निर्देश एवं मञ्च-व्यवस्था भी। ये दोनों मिल कर ही नाट्य-अनुभव की उस सम्पूर्णता तथा एकसूत्रता का निर्माण करते हैं। इस नाट्य-अनुभव और इसकी सम्पूर्णता तथा एकसूत्रता का सम्बन्ध अवश्य ही मञ्च पर प्रत्यक्ष नाटक देखने पर जितना होता है, उतना उसे छपे हुए रूप में पढ़ कर नहीं; किन्तु यह अन्तर केवल गुण की मात्रा का अन्तर है (चाहे वह कितना ही अधिक हो), गुण का नहीं। इसीलिए एक प्रकाशित मञ्चीय नाटक में कुर्सी कहाँ है, और पर्दा बायीं ओर लटका है या दायीं ओर, इस प्रकार के तथ्यपरक मञ्च-निर्देश पढ़ने पर नाट्य-अनुभव की उस एकसूत्रता में बाधक नहीं बनते। किन्तु एक प्रकाशित रेडियो-नाटक के साथ ऐसी बात नहीं होती। उसमें दिये हुए 'मञ्च'-सङ्केत प्रायः प्राविधिक होते हैं। अतः फ्लैश बैक शुरू और फ्लैश बैक समाप्त, जूते की खट-खट, विमान की गूँ-गूँ, कम्पार्टमेण्ट की खटर-पटर, सङ्गीत का फेड-इन होना या फेड-आउट होना आदि ऐसे ही ध्वनि सङ्केत हैं जो पढ़ने पर सहज ही ग्राह्य नहीं हो पाते और नाट्य-अनुभव को संवेदनात्मक-स्तर पर ग्रहण करने में रुकावट डालते हैं। फिर लेखक ने पुस्तक की भूमिका ('रेडियो, रेडियो-नाटक और मेरे अनुभव') में रेडियो-नाटक में खण्ड-चित्रों द्वारा निर्मित जिस एकसूत्रता की बात की है, वह पूर्णतः ध्वनि-आश्रित है, अतः उसकी रचना-प्रक्रिया अमूर्त एवं सूक्ष्म होती है। स्पष्ट है कि रेडियो-नाटक के 'मञ्चहीन मञ्च' पर ध्वनि की अमूर्त एवं सूक्ष्म प्रक्रिया द्वारा उत्पन्न एकसूत्रता छपे हुए रेडियो-नाटक में सुरक्षित नहीं रह सकती; और इस तरह एक प्रकाशित रेडियो-नाटक 'टुकड़ों में जोड़ा गया इन्द्रधनुष' मात्र ही रह जाता है। चूँकि मञ्चीय नाटक इतनी सूक्ष्म एवं अमूर्त रचना-प्रक्रिया की माँग नहीं करता, अतः उसकी एकसूत्रता की हानि पढ़ने पर उतनी नहीं होती।

इसके अतिरिक्त एक अन्य बात के सन्दर्भ में मञ्चीय नाटक और रेडियो-नाटक के पढ़ने का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। इस बात का सम्बन्ध रेडियो-नाटक-विधा की विशिष्टता से है जो कभी-कभी उसकी अपनी सीमा भी बन जाती है। फ्लैश बैक की टेकनीक रेडियो-नाटक में एक प्रचलित चीज है। यहाँ आपत्ति इस बात पर नहीं कि फ्लैश बैक रेडियो-नाट्य विधा की सीमा है, वरन् यह कि इससे रेडियो-नाटक के प्रकाशित रूप में पाठक के सामने क्या कठिनाई पैदा हो जाती है। फ्लैश बैक सुनने पर अपना इच्छित प्रभाव डाल सकता है और प्रायः कथावस्तु सम्बन्धी कई कठिनाइयों को हल भी करता है जिससे श्रोता में कौतूहल तथा सस्पेंस की सृष्टि होती है; किन्तु एक प्रकाशित रेडियो-नाटक में फ्लैश बैक प्रायः अस्वाभाविकता और नाटकीयता का ही आभास देता है। बात यह है कि मञ्चीय नाटक और रेडियो-नाटक के पढ़ने में अन्तर है, दोनों में पढ़ने की प्रक्रियाएँ ही कुछ भिन्न ढङ्ग से घटित होती हैं प्रस्तुत सङ्कलन में 'बाँसों में फूल आ गये' तथा 'पत्थहारा' के फ्लैश बैक वाले हिस्से इस बात की पुष्टि करते हैं

पिछली रात की बरफ मे सग्रहीत श्री नरेश मेहता के सात रेडियो-नाटक ऊपर निर्दिष्ट सीमाओ के बावजूद भी पाठकों को मनोरञ्जक सिद्ध होंगे। रेडियो टेकनीक का उनका ज्ञान और अनुभव, इन नाटको को एक अपना अलग व्यक्तित्व दे सकने में सफल हुआ है। उनके लेखन के परिष्कार, शिल्प-संस्कार तथा अभिजात कथन-भङ्गिमा का रेडियो-नाटक-विधा की संक्षिप्तता, चुस्ती, संयत अभिव्यक्ति तथा प्रभावगत तीव्रता के साथ अद्भुत सामञ्जस्य हुआ है। परिणामत इन नाटकों में भाव तथा भाषा की तनिक भी शिथिलता नहीं मिलती, और अभिव्यक्ति की मुद्रा सायास होते हुए भी सहज लगती है। ध्वनि-प्रभावों को उन्होंने बड़ी कोमलता तथा बारीकी से स्पर्श किया है और अपने नाटकों की मूल प्रकृति के अनकूल मनोवाञ्छित वातावरण उत्पन्न करने मे अत्यन्त सफल हुए हैं—जिन लोगों ने उनके नाटकों का प्रसारण रेडियो पर सुना है, वे इसे भलीभाँति जानते हैं। फ्लैश बैक हालाँकि रेडियो-नाटक का एक हैक्नीड सस्ता आकर्षण है और इसके प्रयोग मे प्रा.. लेखको की अक्षमता पर ही प्रकाश पड़ता है, प्रस्तुत पुस्तक के कम से कम एक नाटक—'सोयी हुई मेहरावें'—में श्री नरेश मेहता ने फ्लैश बैक को सशक्त रूप में अवतरित किया है। किन्तु यदि संग्रह का सर्वोत्तम नाटक चुनने को मुझ से कहा जाय तो मैं 'किराये के कमल' तथा 'प्रश्न और पत्थर' के बीच में ही किसी को चुनूगा—और इसका एक कारण यह भी होगा कि इन नाटकों में इच्छित नाट्य-प्रभाव की सृष्टि के लिए लेखक ने फ्लैश बैक टेकनीक का आश्रय नहीं लिया है।

पुस्तक में एक को छोड़ कर शेष सभी नाटकों की विषय-वस्तु समाज के जिस हिस्से से ली गयी है, वह 'बड़े लोगों का समाज है—ऊँचे-ऊँचे ओहदेदारों, रईसों, व्यवसायियों तथा धनलोलुप व्यक्तियों का समाज। लेखक को इस समाज के तौर-तरीको, सभ्यता-सस्कृति तथा 'वाणी-व्यवहार' सबका सूक्ष्म ज्ञान है। किन्तु लेखक का उद्देश्य इस समाज की किसी समस्या को सीधे चित्रित करना नहीं प्रतीत होता। यह समाज बहुत कुछ पृष्ठभूमि में ही रहता है, जो बात उभर कर नाटक मे केन्द्र-स्थान ग्रहण करती है, वह है इस विशिष्ट समाज की सीमाओं में रुँधी हुई मानवीय राग-भावना। इस दृष्टि से देखें तो 'बाँसों में फूल आ गये' की केन्द्रीय संवेदना गोपा का आहत नारी-हृदय है, 'किराये के कमल', 'प्रेम के अनईमानदार पक्ष को रखता है', 'पन्थहारा' की शेफाली नाटक की मूल अनुभूति की वाहिका लगती है, 'बीमार साँझ के किनारे' में पुनः बाँसों मे फूल आ गये की तरह नारी के कुण्ठित आहत प्रेम का सवाल उठाया गया है, 'सोयी हुई मेहराबें' भी टूटते हुए सामन्त-वर्ग के शिकञ्जे में पिसती नारी को ही उभारता है। 'पिछली रात की बरफ़' इस अर्थ मे थोड़ा भिन्न है, किन्तु कुल मिला कर उसका स्वर भी कोमलता का ही स्वर है—एक रोमाण्टिक कोमलता का स्वर। इस तरह प्रायः अपने सभी नाटकों की समस्या को लेखक ने सीमित अर्थ मे ही सामाजिक रखा है। उस विशिष्ट (अभिजात) समाज की पृष्ठभूमि में उसने केवल प्रेम के सामाजिक पहलू का ही उद्घाटन किया है, यद्यपि कहीं-कही प्रेम को उसके वैयक्तिक स्तर पर भी चित्रित किया गया है, जैसे कि 'पन्थहारा' में।

किन्तु इसी 'पन्थहारा' शीर्षक नाटक में एक अन्य दिशा की सम्भावना निहित थी जिसे लेखक ने विकसित होने नही दिया इस नाटक का हीरो कैप्टन शरेन यद्ध में घायल हो कर चेहरे से एक कुरूप व्यक्ति के रूप में अपने गाँव लौटता है जहाँ बहुत पहले से उसके विषय में

सुन-सुनकर उससे मन ही मन प्रेम करती अपरिचिता शेफाली उसकी प्रतीक्षा करती होती है युद्ध का अमानवीय बर्बर पक्ष तथा उसके आसङ्ग म मानव मन की वेदना का विस्फोट निश्चय ही इन दो रूपों के चित्रण द्वारा एक डाइनैमिक नाटक की सृष्टि हो सकती थी और हीरो एक सशक्त चरित्र के रूप में उभर सकता था। किन्तु मूल समस्या को उभारने, घनीभूत करने और इस डाइनैमिक सम्भावना का आविष्कार करने की बजाय लेखक ने उसे एक सेण्टीमेण्टल आदर्श तथा रोमाण्टिक वातावरण की रूपकात्मकला में बिखरा दिया है। हीरो के मन की पीड़ा में युद्ध-जनित अनुभवों की न तो तल्खी आ पायी है, न वह विस्फोट का स्वर जो नाटक को एक सर्वथा यथार्थ दृष्टि-सम्पन्न भूमि पर प्रतिष्ठित कर सकता। पता नहीं क्यों, लेखक ने हीरो को अनिश्चित मन वाले पात्र के रूप में चित्रित करना चाहा है। सम्भवतः सही अर्थ में इस एक मात्र 'आधुनिक' समस्या की सम्भावना को उसने महसूस नहीं किया, नहीं तो इसे मात्र 'प्रतीक्षारता का नाटक' न बने रहने देता। दृष्टि की यह सीमा दूसरे नाटकों पर भी कमोबेश लागू होती है। उनमें चित्रित समाज के मूल्यों का यथार्थ और गम्भीर रूप विश्लेषित नहीं किया गया है; लेखक की दृष्टि प्रायः या तो टेबल-मैनर्स तक रही है या फिर एक रोमाण्टिक वातावरण की सृष्टि तक। केवल 'प्रश्न और पत्थर' में लेखक ने यथार्थ की भूमि का निकटता से स्पर्श किया है, और किन्हीं सैद्धान्तिक आग्रहों की ध्वनि के बावजूद भी इस नाटक का परिवेश, उसकी संवेदना, ठोस तथा आत्मीय लगती है।

—मलयज

लौह-कपाट	प्रकाशक : किताब महल प्रा० लि०
जरासन्ध का बँगला उपन्यास	इलाहाबाद
रामेश्वरप्रसाद मेहरोत्रा द्वारा अनूदित	पृष्ठ-संख्या : २०२
	मूल्य : ३·५० रु०

आलोच्य कृति बँगला साहित्य के प्रख्यात उपन्यासकार श्री चारुचन्द्र चक्रवर्ती उपनाम 'जरासन्ध' के श्रेष्ठ उपन्यास 'लौहकपाट' का हिन्दी-अनुवाद है। पहले वे बाल-साहित्य का ही सृजन करते थे। १९५४ ई० में जब उनकी यह आत्मकथात्मक कृति प्रकाश में आयी तो उनका नाम बँगला के मूर्धन्य उपन्यासकारों में लिया जाने लगा। यह उपन्यास इतना लोकप्रिय हुआ कि अल्प काल में ही इसके कई [illegible] हो गये और बाद में इसके [illegible] पर आधारित एक फिल्म भी बनी।

'लौहकपाट' में विभिन्न अपराधों में पकड़े गये बन्दियों के जीवन और मनोविज्ञान के छोटे-छोटे किन्तु अत्यन्त मर्मस्पर्शी चित्र प्रस्तुत किये गये हैं। वास्तव में यह कृति उपन्यास न हो कर छोटे-छोटे स्केचों का सग्रह है जिसका प्रत्येक चित्र अपने आप में पूर्ण और स्वतन्त्र है तथा सभी चित्र केवल कथाकार के माध्यम मे ही एक-दूसरे से संग्रथित हैं।

यों तो उपन्यास के प्रत्येक पात्र का चित्र, चाहे वह मेनाजदिद जैसे झूठे अपराध में फँसाये जानेवाले क़ैदी का चित्र हो, अथवा सञ्जय चटर्जी उर्फ विपिनदास जैसे देश की स्वतन्त्रता की वेदी पर अपने जीवन को होम कर देने वाले महान् क्रान्तिकारी का चित्र हो; चाहे मालिक से तनख़्वाह न पाने पर उनकी गाय चुराने वाले रतिकान्त का चित्र हो अथवा विभिन्न अपराधों के हेतु दण्डित करण सिंह, क्षितीश रुद्र जैसे भूख-हड़ताल करनेवालों का चित्र; चाहे अपनी प्रेमिका के पति की हत्या करने वाले अफ़ज़ल का चित्र हो अथवा महज़ शङ्का के कारण अपनी पत्नी की हत्या करने वाले मङ्खिया का चित्र; सभी हमारी भावनाओं को उद्वेलित कर हृदय-पटल पर एक दीर्घकालीन अक्स खींच देते हैं। किन्तु इन सबसे भिन्न एक अन्य चित्र भी है—पागल, हत्यारिन मल्लिका गाँगुली का चित्र। करुणार्द्र, मर्म को छू कर एक दीर्घव्यापी आलोड़न पैदा कर देनेवाला चित्र!

कलकत्ता के एक सम्पन्न एवं सम्भ्रान्त गाँगुली-परिवार का एक नवयुवक मतीश अपने घनिष्ठ मित्र हीरालाल की शादी में जङ्गलों-झाड़ियों से घिरे सुदूर गाँव में जाता है। लगन के कुछ ही समय पहले हीरालाल नित्य-क्रिया से निवृत होने के लिए जैसे ही एक तालाब के निकट पहुँचता है कि एक भयङ्कर गोखरू सर्प के दंश से चिल्ला उठता है और डाक्टर तथा ओझा की अनेक कोशिशो के बावजूद नहीं बच पाता। जिस परिवार में क्षण भर पहले मङ्गल-ध्वनि हो रही थी, वहीं अब कुहराम मच जाता है। लड़की सुनती है तो बेहोश हो जाती है। मतीश जब लड़की को होश मे लाने के लिए उसके पास जाता है तो, देखता है कि वह तो जैसे लड़की न हो, बल्कि किसी दक्ष शिल्पी के हाथों की बनायी मूर्ति हो। गाँव के पञ्चों की राय होती है कि उस लड़की—मल्लिका—की शादी उसके बहनोई इसी लगन पर अधेड़ चटर्जी के साथ कर दें अन्यथा उन्हें जाति-च्युत कर दिया जाय। मतीश से यह अन्याय नहीं देखा जाता और मल्लिका से विवाह कर उसे अपने घर ले आता है।

घर आने पर मतीश को अनुभव होता है कि इस विवाह से उसके एक छोटे भाई को छोड कर माता, पिता और बहन तीनों में से कोई भी प्रसन्न नही है। तीनों मल्लिका को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं और घर के वातावरण मे एक तनाव उत्पन्न हो जाता है, हांलाकि मल्लिका इस तनाव को कम करने का यथाशक्ति प्रयत्न करती रहती है।

एक दिन मतीश मल्लिका को आभूषणों से सुसज्जित कर ईर्ष्यालु सम्बन्धियों का मान-भङ्ग करने उनके घर जाता है और फिर टैक्सी से घर लौट आता है। मतीश टैक्सी से उतर कर पीछे की ओर जैसे ही दृष्टि डालता है वैसे ही टैक्सी मल्लिका को ले कर गायब हो जाती है। लाख कोशिशों के बावजूद मल्लिका का कुछ पता नहीं चलता। तीन दिनों बाद वह एक दिन प्रातःकाल गांगुली-परिवार की बहू मल्लिका, गांगुली महोदय की कोठी के सामने अचेतावस्था मे अस्त-व्यस्त दिखायी पड़ती है आते हैं परीक्षण कर दवा लिख देते हैं और मल्लिका को नर्सिङ्ग होम मे रहने की राय दे कर चले जाते हैं

मल्लिका नर्सिङ्ग होम मे रहने लगी है और धीरे-धीरे स्वस्थ भी होने लगी है, किन्तु साथ ही साथ जीवन के प्रति एक अजीब-सी वितृष्णा उसके मन-प्राण को घेरती जाती है। सतीश को देखते ही वह घबरा-सी जाती है। हर क्षण उसके मन मे अपने गुरु-तुल्य जीजा की वाणी कौंधती रहती है—"यह जो मनुष्य देह हम लोगों ने धारण किया है, इसे तुच्छ नहीं समझना मल्लि। देह, देवता का मन्दिर है। इसको शुचि-शुद्ध पवित्र रखने मे ही उसमे देवता की प्रतिष्ठा सम्भव है। तुमने लड़की हो कर जन्म लिया है। आज हो, कल हो, एक दिन तुम्हें पति को वरण करना होगा। पति हो कर जो आएँगे उनके पैरों पर तुम अपने इस देह को और मन को इसी प्रकार शुद्ध रूप मे समर्पित करना, जैसे हम देवता के चरणों मे पूजा के फूल निवेदन करते हैं। याद रखना मल्लिका, कि कोई दोषहीन निष्कलङ्क फूल ही देवता के चढ़ने योग्य है। जो फूल गन्दी जगह पर पड़ा हो, जिसके ऊपर से कोई चला गया हो, वह कभी देवता की पूजा मे नहीं लगता है।" वह सोचने लगती है। "नहीं, यह अपावन शरीर देवता-योग्य नही।"

दो माह पश्चात् उसने अनुभव किया कि जैसे एक नया प्राणी उसके भीतर हिलकोरे मार रहा है। एक दूसरी चिन्ता मस्तिष्क में जमने लगी—"कहीं उस पिशाच का तो. . . . !"और घर आने पर जब नौ माह बाद लडका हुआ और नौकरानी बोल उठी कि "हाँ, बहू जी, लडके ने तुम्हारी जैसी शकल नहीं पायी न बाप की, न माँ की !" —तो मल्लिका का सर चकरा गया और वह वज्राहत-सी बैठी रही। एक अजीब प्रकार की जड़िमा उसके तन-मन में छा गयी और छाती चली गयी और उसी रात उसने बच्चे की गरदन दबा कर हत्या कर दी। फिर मल्लिका वह मल्लिका न रही। अब वह थी शून्य, सज्ञाहीन, विजडित आँखो वाली मल्लिका। पुत्र-हत्या के अपराध में पागल बन्दिनी मल्लिका।

तो यह है मल्लिका गांगुली की कहानी—मन-प्राण को अभिभूत कर देने वाली, अन्तस् की करुण-धारा को उद्वेलित कर मर्म को बाँध लेने वाली कहानी। अन्य सभी कहानियों से अनोखी।

इसमे कोई सन्देह नहीं कि कथाकार ने जिन पात्रों के चित्रों एवं रूपों को हमारे सामने प्रस्तुत करना चाहा है वे अपने पूर्णत्व के साथ आ कर हमारे सामने खड़े हो जाते है और अपने साथ ही हमारी भाव-धारा को भी बहा ले जाते है, किन्तु साथ ही साथ वे हमारी बौद्धिक चेतना मे भी एक तीव्र खलबली मचा देते हैं। व्यक्ति अपराध क्यों करता है? क्या हम, हमारी सामाजिक व्यवस्था, हमारी स्वार्थपरता, हमारी सङ्कुचित वृत्ति आदि ही वे तत्त्व नहीं हैं जो व्यक्ति को अपराध करने के लिए बाध्य करते हैं? और फिर अपराधी को सुधारने के लिए क्या कारावास का कठोर दण्ड ही सर्वाधिक उपयुक्त साधन है? ये सब प्रश्न उपन्यास पढ़ते समय स्वभावतः हमारे सामने आ खड़े होते हैं और एक निश्चित दिशा में सोचने के लिए बाध्य कर देते है। यह निश्चित दिशा का चिन्तन ही पात्रों के प्रति हमारे मन में उनके अपराधी होने के बावजूद भी सहानुभूति की भावना उत्पन्न करने मे क्रियाशील होता है।

यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि कथाकार के पास कथा कहने तथा प्रभान्विति उत्पन्न करने की अपनी एक विशिष्ट शैली है, किन्तु उसकी इस व्यक्तित्वनिष्ठ शैली का सबसे प्रमुख एव प्रभावपूर्ण तत्त्व व्यंग्य जो पाठक को पग-पग पर मुग्ध किये रहता है इसके कुछ द्रष्टव्य हैं

कच्चे और पक्के के बीच जो व्यवधान है, वह कालगत है। समय पूरा होने पर कच्चा मिर्चा पकने लगता है, कच्चा सर पके बालों से भर जाता है। पर संसार में एक ऐसी भी वस्तु है जिस पर यह नियम लागू नहीं होता, वह है नौकरी। वह भी कच्ची से पक्की होती है पर काल-धर्म के अनुसार नहीं लैल-धर्म के अनुसार।—(पृष्ठ १)

"पुलिस तथा जेल समगोत्री होने पर भी सहधर्मी नहीं है। लक्ष्य शायद एक ही है, पर कर्म-क्षेत्र विभिन्न है। वे लोग कच्चा माल घोटते हैं, हम लोगों के गुदाम में रहती है पक्की चीज। उनके भाग्य में रा-मैटीरियल है, इन लोगों के भाग्य में फिनिश्ड प्रोडक्ट्स। पुलिस का काम है सामान संग्रह करना—विभिन्न जगहों से विभिन्न प्रकार का माल। वे उसको झाड़-पीट कर कोर्ट नाम की फैक्ट्री में चालान करते हैं। उसके बाद उस बक यन्त्र में शोधन कर के फीनिशिङ्ग की छाप लगा कर गाड़ी में लाद कर ले आते हैं जेल के दरवाजे पर। हम लोग माल छुड़ाते हैं—सम्हाल कर रखते हैं—काम में लगाने की चेष्टा करते हैं।"—(पृष्ठ ५६)

अन्त में, 'लौहकपाट' जैसी पुस्तक का हिन्दी अनुवाद, सफल अनुवाद होने के बावजूद भी चिन्त्य हिन्दी प्रयोगों से खाली नहीं है। जैसे—

"हाथ दर्द होने लगा हम लोगों का" (पृ० ८); "अरे महाशय, इसी मध देश के लड़के-लड़कियों के एक दल ने आपके अंग्रेज प्रभुओं से बाघ की तरह जूझे थे।" (पृष्ठ २५); "जब बदला लेने का समय आया तब अंग्रेज प्रभुओं ने इस मास्टर को नहीं भूला।" (पृ० २५); "बहुत कुछ तुमने किया समझता हूँ।" (पृ० १०४); "हाँ मेरी जीवन की घटनाएँ भी तुम्हारे साथ मिलती हैं, कुछ मिलता भी नहीं।" (पृ० १४०)। अनुवादक महोदय ने थोड़ी-सी सावधानी बरती होती तो इन दोषों से पुस्तक मुक्त रहती। सब मिला कर इस श्रेष्ठ कृति के हिन्दी अनुवाद को अच्छा ही कहा जा सकता है।

—गोविन्दजी

एक : टूटती शृङ्खलाएँ दो : सन्तरण महेन्द्र भटनागर की कविताओं के दो सङ्कलन	प्रकाशक : प्रबुद्ध भारती प्रकाशन (प्रा०) लश्कर पृष्ठ-संख्या : ९० तथा १०६ मूल्य : २·०० तथा ३·००

एक : टूटती शृङ्खलाएँ

प्रस्तुत-कृति कवि की कृति है इसलिए सहज ही उसमे एक नवोदित प्रतिभा मे पायी जाने वाली कमिया मिलती हैं

जब मैं नवोदित प्रतिमा की कमियों की ओर इशारा कर रहा हूं, तो यह मान लेना चाहिए कि प्रस्तुत कवि उन नवोदित प्रतिभाओं में नहीं है, जो उर्वर कल्पना एवं जीवन्त तत्त्वों के साथ अपने क्षेत्र में सहज प्रवेश करते है। बल्कि वह उस द्वितीय श्रेणी के कवियों में है, जो केवल अनुकर्ता होते हैं; उनकी कल्पना, उनकी शैली, बल्कि उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व अनुकृति पर आधारित होते हैं।

यह सत्य है कि दोनों प्रकार की प्रतिभाओं मे प्रारम्भ मे कमियां होती हैं। किन्तु दोनो मे एक गहरा अन्तर होता है। प्रथम मे आकर्षण मौलिकता की ओर होता है, जब कि द्वितीय में ध्यान बरबस कमियों की ओर जाता है। प्रथम कोटि का कवि अनुकरण करता है, लेकिन अनजाने मे—शायद रास्ता पाने के लिए, अपने को साक्षात्कृत करने के लिए। अन्ततः वह परम्परा या विरासत के बल पर जीना नहीं चाहता। उसके शब्द अपने होते है, शैली निजी होती है पद्धति स्वरचित होती है। इसलिए प्रारम्भ में उसकी अनुकृति भी उसके व्यक्तित्व की झांकी प्रस्तुत करने में समर्थ होती है।

दूसरे प्रकार के लोगों की कई श्रेणियां है। एक वे होते हैं, जो अधीति को अनावश्यक समझते हैं। फलतः वे अपने को किसी सुव्यवस्था में ढाल नही पाते। ऐसे लोग अनुकृति पर क्षणिक यश कमा कर फिर समाप्त हो जाते हैं। दूसरे वे होते हैं, जो अनुकर्ता तो होते है, किन्तु क्रमश अभ्यास और अध्ययन से अपना एक अलग व्यक्तित्व बना लेते है। और तीसरे वे होते है, जो प्रतिभा को परिश्रम के साथ संयुक्त नही करना चाहते, 'सहज पथ' अपनाना जानते है और इसीलिए वे अनुकृति का सम्बल ले कर यशस्वी बन जाते है। परिचित स्वर चूंकि कर्णसुखद होते है, इसलिए उन्हे अर्धजागृत रूप से एक प्रतिष्ठा प्राप्त हो जाती है।

'टूटती शृङ्खलाएँ' का कवि निश्चय ही इस द्वितीय कोटि के अन्तर्गत आएगा। किन्तु एक कृति के आधार पर इस द्वितीय कोटि के अन्तर्गत आनेवाले इन तीन श्रेणियों में उसे किसमें रखा जाय, यह निश्चित करना भूल होगी।

तो, 'टूटती शृङ्खलाएँ' कृति नही है, अनुकृति है। शायद कुछेक को अनुकृति भी न लगे। क्योंकि अगत्या अनुकृति को भी सफल और सुन्दर होनी चाहिए, और वह नहीं है। उसमें सहजता कम, प्रयत्न ज्यादा है। और इसीलिए अनुकृति मे जो बासीपन होना है, वह फफूंदी बन गया है। अस्तु।

शिवमङ्गल सिंह 'सुमन' द्वारा दिये गये सर्टिफ़िकेट के अनुसार इस कृति में 'युग की अस्त-व्यस्त मानसिक दशा तथा अप्रतिहत सङ्घर्ष की जागरूक वाणी के उन्मेषशील स्वर' मिलते है, किन्तु वह स्वर उतना तेजस्वी नहीं है, जितना 'एक भारतीय आत्मा' का था, जितना 'नवीन' का था, और जितना 'दिनकर' का रहा है। इन पहले के कवियों के सामने उसका स्वर काफ़ी फीका है, उनकी अनुकृति होने के बावजूद। 'सुमन' जी कवि में 'निर्भीक व्यञ्जना' देखते हैं। लेकिन यह एक आरोपित सत्य भर है। कोई भी रचना इसका प्रमाण नहीं देती। और 'प्रगतिशील काव्य के स्वर्णिम भविष्य की ओर सङ्केत' की बात तो आकाश-कुसुम ही है। ऐसी स्थिति मे ऐतिहासिक दृष्टि से भी 'सुमन' जी द्वारा कवि में 'उर्वर प्रतिभा' का दर्शन अदर्शन ही रह जाता है

अब यदि काल दृष्टि से विचार करें तो ये कविताएँ स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय की ही कविताएं हैं। उनमें उस काल में एक युवक के भीतर पनपती भावनाएं कच्चे माल की तरह प्रस्तुत कर दी गयी हैं। फलतः सर्वत्र भोंड़े गद्य के दर्शन होते हैं, कविता के नहीं। कवि यद्यपि पन्त के 'हे' और 'रे' जैसे संवादी स्वर का बहिष्कार कर कहता है—

सब जर्जर-जर्जर ध्वस्त करो!
चिर जीर्ण पुरातन ध्वस्त करो!

किन्तु उसके बावजूद वह अपने मन में दूब की चिर पुरातनता की कल्मीम धो नहीं पाता।

गीतों के विषय में केवल इतना ही कहा जा सकता है, कि एक पिटी-पिटायी शैली में 'मोनोटोनी' और भोंड़े शब्दों का जमघट मिलता है। न एकान्विति, न सङ्गीत, न कविता।

तुक के मोह से ग्रस्त कवि मुक्त छन्द में भी तुक लाने के लिए व्याकरणिक भूलें करता है। 'शेरे हिन्द की सन्तान' में 'असत् नत् कर' के तुक में 'चमक कर' का प्रयोग द्रष्टव्य है। उसी कविता में 'सुमन' जी द्वारा प्रशंसित प्रगतिशील तत्त्व निम्न प्रकार से उभरा है—

कि हालत आज है बेहद बुरी
मानो कसाई की छुरी से चोट खा
बेचैन हो चिल्ला उठा बकरा

यदि 'निर्भीक व्यञ्जना' इसीका नाम है, तो कविता को हमें बातचीत से भी नीचे लाना होगा। उत्प्रेक्षा के सौन्दर्य को ठुकरा देना होगा।

फ़िलहाल दो बातें कवि के लिए विशेष चिन्त्य हैं—तुक के प्रति मोह और विशेषण-बहुलता। तुक से बचा भी जाय तो विशेषण कविता को खुशामद और भंडैती से सम्बन्धित करते हैं। विशेषणों का प्रयोक्ता एक प्रौढ़ कवि कभी नहीं बन सकता। प्रस्तुत कवि की प्रस्तुत कृति में ये दोनों दुर्गुण भरे पड़े हैं।

अच्छी रचनाओं में 'नई रचना', 'कला', 'युग-कवि से' का नाम लिया जा सकता है। 'प्रभात' शीर्षक कविता 'नयी कविता' के प्रभाव में असफल होने पर भी ध्यान आकृष्ट करती है।
[illegible]स।

[illegible]दो : सन्तरण

यह काव्य-संकलन भी महेन्द्र भटनागर की ही कृति है। इसके पूर्व उनके कई संग्रह [illegible]काशित हो चुके हैं।

इस बीच कवि ने सामाजिक एवं साहित्यिक प्रतिष्ठाएं प्राप्त कर ली हैं। उसे संस्थाओं ने [illegible]पना कर सम्मान दिया है, पुरस्कार दिये हैं और अन्य भाषाओं में उसके अनुवाद भी हो चुके हैं। [illegible]त आशा बँधती है कि कवि अब यशःप्रार्थी प्रयत्नशील अकेला कवि मात्र नहीं होगा, अपितु [illegible]नुकार्य से दूर अपने व्यक्तित्व के प्रति सजग विकास-प्राप्त जीवन्त कृती हो चुका होगा और [illegible]सके वयस्क स्वर से प्रबुद्ध भावक-वर्ग भी प्रभावित हो सकेगा।

किन्तु सङ्कलन पढ़ जाने के बाद ऐसा नहीं होता। कवि मौलिकता का प्रदर्शन अवश्य [illegible]रता है पर उसकी पुरानी शब्दावली पुरानी भाव मुद्राएं लौट-लौट आती हैं कथ्य तो अब

भी तचने पचने नहीं दिया गया है कच्चे माल की तरह छन्दों में पिरोने की भरपूर कोशिश की गयी है। एक घिसे सिक्के की तरह एक स्थितिशील जनता अब भी है जो अधिक से अधिक रीति प्रेमी भावक-वर्ग को ही आनन्द दे सकती है, अन्य प्रबुद्ध अथवा नित नूतन की खोज में भटकने वाले भावक को कुछ भी नही दे सकती। कवि के पास एक रिकार्ड है, जिसको वह बार-बार बजा रहा है, जिससे वे लोग, जिन्हें सिर्फ़ परिचित स्वर ही कर्ण-मुखद लगते हैं, आनन्द उठा सकें। शायद वह अभी तक ऐसे ही रसिकों का कवि भी है।

और बात यहीं तक नही, कुछ और भी है। वह नये कवियों की भाव-भङ्गी से भी आक्रान्त है, अत: वह मुक्त छन्द के प्रयोगों में उन परिचित शब्दों का उपयोग भी करता है, जो नये कवियो के फ़ैशन में आ गये है, उस शैली का भी उपयोग करता है, जो नये कवियों के लिए वरेण्य रही है। साथ ही वह पाण्डित्य प्रदर्शन एवं काठिन्य-बोध के लिए बीच-बीच में रोड़े की तरह अटकने-वाले संस्कृत शब्दो का प्रयोग भी धड़ल्ले से करने लगा है, जिससे पाठक उसका रोब मान ही ले। यह तो हुई नये कवियों के सतही प्रभाव की बात, वह उनसे पृथक् रहने के लिए प्रयोगवादियों को 'मच्छर' बता कर उन पर 'डी० डी० टी० छिड़कने' की कामना करता है और काफ़ी पीछे लौट कर पन्त से 'प्राण' का उधार ले कर 'निवेदन' करता है। प्रयोगवाद और नयी कविता के दौर के थिराव के बाद इस तरह का जागरण सिवा इसके कि कवि को दो दशक पीछे ले जाय, कोई मानें नही रखता।

तुर्रा यह कि कवि की उपलब्धियों के नाम पर निम्न प्रकार का लोरीरूप दर्शन है, जिसे मच्छरों पर डी० डी० टी० छिड़कने के बाद वह एक वयस्क शिशु की भाँति प्रस्तुत करता है :—

रात सोने के लिए है
सपने सँजोने के लिए है
कुछ क्षणों को
अस्तित्व खोने के लिए है
तारिकाओं से भरी यह रात
परियों साथ सोने के लिए है
सो!

सङ्कलन की दृष्टि से इसके दो भाग होने चाहिए थे—मुक्त छन्द की रचनाओं एवं गीतो की दृष्टि से। वैसे चयन की दृष्टि से गीतों में केवल 'माँझी' ही चयनीय है, शेष में दादुरी वृत्ति के अलावा और कुछ नहीं। कविताओं में भी केवल 'जीवन', 'टूटना मत', 'जीवन : एक अनुभूति', 'क्या पता था', 'पुनर्जन्म', 'अभिरमण', 'अन्धकार', 'आलोक' एवं 'माओ और चाऊ के नाम' कविताएँ ही संग्रहणीय हैं। शेष छँटनी के लायक हैं। और इतनी कविताओं से निश्चय ही संग्रह नहीं तैयार हो सकता। फिर इन कविताओं में भी फैलाव, अनगढ़पन तथा अनुकारी प्रवृत्ति है, जिससे इन कविताओं का महत्त्व खत्म-सा हो जाता है। ये कविताएँ थोड़ी और कसी हुई होती तो बेहतर होता जैसे 'पुनर्जन्म' की पहली तीन पङ्क्तियाँ

जीवन का आरम्भ
फिर से
उसमें सन्दर्भ न हो,
पूर्वापर कोई सम्बन्ध न हो।

के बाद दो पङ्क्तियों वाले प्रश्न भावक को अतिरिक्त ही लगेंगे, उचित नहीं लगेंगे। और अन्त तो कविता की उठान पर 'पाहन' ही रख कर दम लेता है। इसी प्रकार एक अन्य कविता अविश्वसनीय' में रूपक तो उभरता है किन्तु कथ्य पीछे छूट जाता है। वस्तुतः वहाँ आवश्यकता थी प्रतीक की। प्रायः हमारे यहाँ प्रतीक को रूपक बना देना आम बात है। इसी तरह 'जीवन एक अनुभूति' में कई बिम्बों का प्रयोग किया गया है, जब कि आवश्यकता प्रथम दो बिम्बों 'बन्द कमरे' और 'बजरे' की ही थी, किन्तु बिम्ब-मोह के कारण कविता फैला दी गयी।

ऐसा लगता है, महेन्द्र भटनागर उस दुराहे पर खड़े है, जहाँ एक ओर पुराने शब्द पुरानी भावनाएँ हैं और दूसरी ओर नये भाव-बोध और टूटती परम्परा। कवि परम्परा के प्रति मुग्ध है और रास्ता चुनने का साहस भी नहीं है। फिर भी आत्म-मुग्ध है और अपने प्रति आश्वस्त है। यह सङ्कलन उसकी इसी मनःस्थिति का प्रतिफलन है। शायद इसके बाद वह पूर्वापर कोई सम्बन्ध न पा कर अपने जीवन का आरम्भ करे और हमें उसका नया सौन्दर्य दृष्टिगत हो, किन्तु यह अनुमान ही है, जिज्ञासा ही है, अन्य कुछ नहीं।

श्रीराम वर्मा

हिन्दुस्तानी एकेडेमी के महत्वपूर्ण प्रकाशन

१. गालिब के पत्र (दो भाग)—श्रीराम शर्मा	६.०० तथा ८.००
२. कहरानामा मसलानामा—श्री अमरबहादुर सिंह 'अमरेश'	२.५०
३. मानव का उज्ज्वल भविष्य (अनूदित)—इरविन डी० कैन्हम	४.५०
४. अमरीकी दर्शन का इतिहास (अनूदित)—हर्बर्ट डब्ल्यू श्नाइडर	८.५०
५. साहित्य की मान्यताएँ—श्री भगवतीचरण वर्मा	४.५०
६. बीसलदेव रास [एक गवेषणा]—श्री सीताराम शास्त्री	२.००
७. श्री शङ्कराचार्य (संशोधित संस्करण)—श्री बलदेव उपाध्याय	१०.००
८. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (संशोधित संस्करण)—श्री ब्रजरत्नदास	७.००
९. सूरसागर शब्दावली [एक सांस्कृतिक अध्ययन]—डॉ० निर्मला सक्सेना	१२.००
१०. नैषध परिशीलन—डॉ० चण्डिका प्रसाद शुक्ल	१०.००
११. भारतवर्ष का सामाजिक इतिहास (६०० ई० पू०—१०० ई०) —डॉ० विमलचन्द्र पाण्डेय	१२.००
१२. कृषक जीवन सम्बन्धी व्रजभाषा शब्दावली (दो भाग)—डॉ० अम्बाप्रसाद सुमन	१२.५० तथा २०.००
१३. रोगीमन (असामान्य मनोविज्ञान)—श्री सूरजनारायण मुन्शी तथा श्रीमती सावित्री एम० निगम	१२.००
१४. माटी खाईं जनावरा—श्री सर्वदानन्द	५.००

नवीनतम प्रकाशन

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन': व्यक्ति एवं काव्य—डाक्टर लक्ष्मीनारायण दुबे [बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' के व्यक्तित्व और कृतित्व पर सांगोपांग शोध-प्रबन्ध]

प्रकाशन पथ पर

ग्रह-नक्षत्र—डाक्टर सम्पूर्णानन्द द्वारा लिखित ग्रह तथा नक्षत्रों की उत्पत्ति, स्थिति और गति के सम्बन्ध में एक विचार पूर्ण सचित्र-ग्रन्थ।

एकेडेमी की शोधपरक तथा विविध साहित्यिक, समीक्षात्मक तथा अन्य प्रकार की पुस्तकों के लिए सूचीपत्र निःशुल्क प्राप्त करें।

हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद